UNIVERSITY OF ALLAHABAD
ALLAHABAD-211002

CERTIFICATE

This is to certify that the work embodied in this dissertation entitled "**श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द की वैचारिक पृष्ठभूमि में अद्वैत वेदान्त की सार्थकता**" is the original work of the candidate Sri Shailendu Nath Mishra, and is suitable for the award of D. Phil. Degree in Philosophy, from the "University of Allahabad". The candidate has fulfilled all the requirements.

I wish him every success in life.

6.05.03
Date

Mridula R Prakash
(Dr. M. R. Prakash)
Supervisor

श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द की वैचारिक पृष्ठभूमि में अद्वैत वेदान्त की सार्थकता

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग से
डी०फिल् उपाध्यर्थ सम्पूरित

शोध-प्रबन्ध
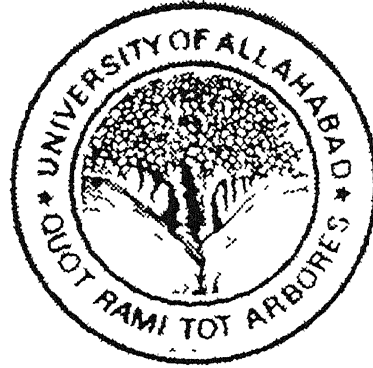
पर्यवेक्षिका
डॉ० (श्रीमती) मृदुला रवि प्रकाश
विभागाध्यक्षा
दर्शनशास्त्र विभाग, इ.वि.वि., इलाहाबाद

शोधार्थी
शैलेन्दु नाथ मिश्र

दर्शनशास्त्र विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

2003

पुरोवाक्

भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण वैचारिक आयाम वेदों से निःसृत, पुष्पित एवं विकसित हुआ है। वेदान्त की वाग्धारा इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसी वाग्धारा ने समस्त विश्व में अपनी विशिष्ट छाप छोडी है। भारतीय मनीषा ने समस्त जगत् को वैचारिक संदेश दिया था, जिसको विभिन्न देशों ने धर्म और कर्म के रूप में अपनाया भी है। यही कारण है कि भारत को एक समय में जगद्गुरु भी कहा जाता था। आध्यात्मिकता भारतीय दर्शन की मूल विशिष्टता है जिसका समयानुकूल परिवर्द्धन भारतीय मनीषाओं द्वारा होता रहा है। वेदों के बाद उपनिषदों में ज्ञान की सार्थकता और सत्य की खोज का प्रयास हुआ। यह मूल वैचारिक वाग्धारा छठी शताब्दी ई0पू0 में उदित 'जैन' एवं 'बौद्ध' धर्म एवं दर्शनों में भी देखी गयी। सांख्य-योग ने आध्यात्मिक साधना द्वारा मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास किया। न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा-दर्शनों में 'प्रमा-प्रामाण्य' की विशद् विवेचना की गई। इन सभी भारतीय दर्शनों का चरम-विकास 'वेदान्त' (उत्तर-मीमांसा) में हुआ है। वेदान्त के सम्प्रदायों में अद्वैत वेदान्त विशेष उल्लेखनीय है। अद्वैत वेदान्त को भारतीय दर्शन के 'चरम विकास की अवस्था' कहा जा सकता है, जिसके आधार पर समकालीन भारतीय दार्शनिक अपने विचारों को विकसित करते रहे हैं।

आज विश्व बहुत ही कठिन दौर से गुजर रहा है। सर्वत्र मानवीय मूल्यों का ह्रास हुआ है। चारों तरफ भीड-तंत्र का बाहुल्य नजर आता है। नैतिक नियमों एवं मर्यादाओं का तिरस्कार हो रहा है। निरतर हो रहे वैज्ञानिक प्रगति के बावजूद लोग आत्मीय शान्ति की तलाश में भटक रहे हैं। इन विषम परिस्थितियों में यदि अद्वैत-वेदान्त के सूत्र **'जीवोब्रह्मैव नापरः'** को आत्मसात् कर लिया जाय तो इन परिस्थितियों एवं समस्याओं का निराकरण ही नहीं होगा वरन् समस्या उत्पन्न ही नहीं होगी ।

यह आध्यात्मिक अभिवृत्ति न केवल भारतीय दर्शन के विभिन्न पहलुओं को प्रभावित करती रही है, वरन् भारत के सामान्य जनमानस तथा जीवन-शैली का एक अभिन्न अंग बन चुकी है। तुलनात्मक रूप से पाश्चात्य चिंतन तथा जीवन-शैली में आध्यात्मिकता का स्थान इतना प्रमुख कभी नहीं रहा। यद्यपि यह सत्य है कि पश्चिम के धर्म-दर्शन, अंतःप्रज्ञावादी तथा रहस्यवादी चिंतन में आध्यात्मिक तत्व विशेष रूप से

पाया जाता है, तथापि सामान्य जीवन-दर्शन में इसकी प्रमुखता नहीं रही। वैदिक औपनिषदिक युगों से ही भारत में योगियों, ऋषियों तथा संतों की परम्परा चली आ रही है। गुरु-शिष्य परम्परा की स्थापना भी इसी समय हुई। आत्मा तथा ईश्वर के स्वरूप तथा इसके पारस्परिक संबंध का ज्ञान इन संतों द्वारा दी गई शिक्षा का प्रमुख विषय रहा है। प्रारम्भ में धर्म पर आधारित नैतिकता की शिक्षा इसका उद्देश्य था। समय के प्रवाह के साथ-साथ यह चिन्तन बौद्धिक तथा परिष्कृत होता गया तथा इसमें दर्शन के अन्य सामान्य रूप से स्वीकृत तत्व, जैसे-ज्ञानमीमांसा, नीति-शास्त्र, धर्म-दर्शन आदि भी समाविष्ट होते गए, किन्तु उनकी शिक्षा का मूल्य उद्देश्य था - 'पूर्ण आध्यात्मिक विकास।' इसी उद्देश्य को विभिन्न संदर्भों में विभिन्न संज्ञाओं से अभिहित किया गया। इसे संदर्भ विशेष में 'परम सत् का ज्ञान' या 'परमज्ञान' भी कहा गया है। प्राचीन ऋषियों की शिक्षा की परम्परा को आधुनिक काल के योगियों एवं संतों ने भी अपनाया तथा इसे अधिक बोधगम्य तथा परिष्कृत रूप से आगे बढाने का कार्य किया। इन आधुनिक योगी-संतों की शिक्षा का उद्देश्य भी 'इशोपलब्धि', 'आत्मोपलब्धि' या 'परम-सत् का ज्ञान' ही था। इनके शिक्षा प्रणाली में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए । इन्होंने धर्म को सहज रूप से परिभाषित करते हुए धर्म को एक सार्वभौम रूप देने का प्रयास किया तथा आत्मोपलब्धि या ईश्वर प्राप्ति के साधन को इस रूप में प्रस्तुत किया जो सामान्य जनमानस से लेकर प्रबुद्ध लोगों को भी समान रूप से अपनी ओर आकर्षित कर सके।

स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर उनके गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस की बहुत अधिक छाप पायी जाती है। स्वामी विवेकानन्द की विचारधारा एवं व्यक्तित्व से समग्रतः परिचित होने के लिए उनके गुरु श्री रामकृष्ण देव के विचारों एवं व्यक्तित्व को जानना नितान्त आवश्यक है। स्वामी जी ने स्वयं यह लिखा है कि **'शिष्य की आवाज द्वारा वास्तव में संसार गुरु की आवाज सुनता है।** शिष्य गुरु का क्रियात्मक रूप में पूरक है। यदि गुरु का जीवन नवीन सिद्धान्तों की पुस्तक है तो शिष्य का जीवन उसके सिद्धान्तों का व्याख्या करते हुए उसका व्यावहारिक रूप है।'

स्वामी विवेकानन्द एवं उनके गुरू के जीवन-दर्शन पर वेदान्त दर्शन का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। वेदान्त को हिन्दुओं ने अपने मूल ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया है और स्वामी विवेकानन्द तो हिन्दू धर्म के कट्टर समर्थक के रूप में विख्यात हुए थे। उन पर वेदान्त दर्शन का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि **'हिन्दू शब्द**

कहने से हम लोगों का यही अभिप्राय है जो वास्तव में वेदान्ती का है।' वेदान्त का मुकुटमणि अद्वैत वेदान्त है। अतः स्वामी जी का जीवन सबसे अधिक अद्वैत वेदान्त से ही प्रभावित था। वे इससे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कहा– **''परमात्मा करे कल ही सम्पूर्ण संसार केवल मत में ही नहीं अनुभूति के सम्बन्ध में भी अद्वैतवादी हो जाय।''** तत्कालीन धार्मिक संस्कार और धर्म के बिगडते हुए स्वरूप की रक्षा के लिए उन्होंने अद्वैत की शिक्षाओं पर जोर देते हुए कहा था– ''सबमें यह अद्वैतवाद प्रचारित करो जिससे धर्म आधुनिक चिन्तन विज्ञान से भी अक्षत बना रहे।''

अद्वैत वेदान्त के प्रभाव से ही स्वामी विवेकानन्द के धार्मिक तथा दार्शनिक आधारों का निर्माण हुआ। उनके दार्शनिक सिद्धान्त को **'व्यावहारिक वेदान्त'** भी कहा गया। अद्वैत वेदान्त के इस सिद्धान्त से कि **'सभी व्यक्ति मूलतः ब्रह्म स्वरूप होने से एक हैं'** उनमें सभी लोगों के प्रति प्रेम तथा सभी धर्मों के प्रति समान आदर भाव उत्पन्न किया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वास्तव में अद्वैत वेदान्त ने स्वामी जी के समग्र चिन्तन फलक को आप्लावित किया था। इसी वेदान्तिक विचारधारा से अभिप्रेरित होकर श्री रामकृष्ण देव एवं स्वामी विवेकानन्द ने अपने समकालीन विषम परिस्थितियों में भी मानवता का संचरण सम्पूर्ण धरा पर करने का प्रयास किया था, जिसे नव भारत के निर्माण में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है।

स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन और विचार पर अद्वैत वेदान्त के अमिट प्रभाव को देखते हुए ही शोधकर्ता ने उनकी समग्र वैचारिक पृष्ठभूमि में अद्वैत वेदान्त की वास्तविक सार्थकता को खोजने का प्रयास किया है। चूँकि विवेकानन्द की चिन्तनधारा को हम उनके गुरु श्री रामकृष्ण देव की चिन्तनधारा से सर्वथा अलग करके नहीं समझ सकते, इसीलिए शोधकर्ता द्वारा स्वामी विवेकानन्द के साथ ही उनके गुरु श्री रामकृष्ण देव की वैचारिक पृष्ठभूमि में भी अद्वैत वेदान्त की यथा सम्भव सार्थकता को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। दोनों महामानवों की अद्भुत विचारशैली, परम साधनायुक्त जीवन-पद्धति एवं मानवतावादी दृष्टिकोण से अभिभूत होकर शोधकर्ता द्वारा इसी महत्त्वपूर्ण विषय पर शोध करना स्वकर्तव्य समझा गया है।

———o———

सादर आभार

यद्यपि रामकृष्ण देव एवं विवेकानन्द दोनों महापुरूषों के व्यापक व्यक्तित्व एवं कृतित्व को एक शोध-प्रबंध के अन्तर्गत समाहित कर देना 'जिमि पिपिलिका सागर थाहा' के समान है, तथापि शोधार्थी द्वारा सागर को थाहने का प्रयास मात्र किया गया है। शोधार्थी यह तो दावा नहीं कर सकता है कि उसने सागर को थाह लिया है, फिर भी उसने वैचारिक पयोधि में गोता अवश्य लगाया है।

इस शोध-प्रबंध में उल्लिखित सभी संदर्भकारों के प्रति शोधार्थी नतमस्तक है, जिनकी रचनाओं से उसे अपार सहयोग मिला है। इसी श्रृंखला में भारतीय दर्शन के साक्षात् मनीषी प्रख्यात दर्शनविद् प्रात:स्मरणीय पूज्य गुरूदेव **स्व0 प्रो0 संगमलाल पाण्डेय जी** को विस्मृत नहीं किया जा सकता जिनकी सतत् प्रेरणा शोधार्थी को मिलती रही है, यद्यपि वे सशरीर हमारे बीच नहीं हैं तथापि उनकी वाणी सदैव मेरा मार्ग प्रशस्त करती रहती है। इन्हें शत् शत् नमन।

इस शोध-प्रबन्ध की निर्देशिका ममतामयी, श्रुतिमयी **डॉ0 मृदुला रवि प्रकाश** महोदया (विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र, विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) के असीम अनुग्रह के सम्मुख शोधार्थी श्रद्धावनत् है, जिनकी प्रेरणा से इस शोध-प्रबन्ध में जीवन्तता आ गयी है। इन्हीं के सहज मार्गदर्शन से दर्शनशास्त्र जैसे दुरूह विषय को मैंने सहज रूप में हृदयंगम किया है। शोध-प्रबन्ध को परिपूर्ण कराने के लिए वे सदैव मुझे प्रोत्साहित एवं प्रेरित करती रहीं। इस शोध-प्रबन्ध की जो भी अच्छाइयाँ हैं वे उनकी हैं और जो कमियाँ हैं वे मेरी हैं।

इस शोध-प्रबन्ध की परिपूर्णता में दर्शनशास्त्र विभाग के समस्त गुरूजनों परमादरणीय डॉ. **जटाशंकर जी, डॉ. हरिशंकर उपाध्याय जी, डॉ. गौरी चाट्टोपाध्याय जी, डॉ. नरेन्द्र सिंह जी, डॉ. (श्रीमती) आशा लाल** प्रभृति आचार्यो ने समय-समय पर समुचित मार्गदर्शन एवं सहयोग दिया है। उनके प्रति मैं हृदय से आभार व्यक्त कर रहा हूँ। परम श्रद्धेय गुरूवर **प्रो. देवकी नन्दन द्विवेदी, प्रो. रामलाल सिंह जी, प्रो. एस.वी. पी. सिन्हा जी** (विभागाध्यक्ष, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर) एवं **प्रो बी. एन. सिंह जी,** (बी एच यू., वाराणसी) के सम्यक् मार्गदर्शन के लिए भी मैं इन पितृतुल्य आचार्यो का हृदय से आभारी हूँ।

अपने अग्रज तुल्य परमादरणीय **डॉ0 विद्यासागर उपाध्याय** (अतिथि-प्रवक्ता, दर्शनशास्त्र विभाग, इ.वि.वि) के चरणों में मैं सादर विनत् हूँ जिनकी प्रेरणा एवं सहयोग के बिना इस शोध-प्रबन्ध की परिपूर्णता असंभव थी। मुझे समय-समय पर जिन शुभेच्छुओं का सहयोग मिलता

रहा है, उनमे दर्शनशास्त्र विभाग के आदरणीय डॉ0 **रजनीश पाण्डेय, डॉ0 देवेन्द्र विक्रम सिंह, डॉ0 विश्वामित्र पाण्डेय**, उल्लेखनीय हैं, मैं सहृदय इनके प्रति आभार व्यक्त करना अपना स्व-कर्तव्य समझता हूँ।

मेरे भविष्य के प्रति सदैव सचेष्ट मेरी परम श्रद्धेया बड़ी माँ (ताई जी) श्रीमती गायत्री देवी, पूजनीया माँ श्रीमती कुसुम मिश्रा एवं पूज्य पिता जी श्री **विश्वम्भर नाथ मिश्र जी** के श्री चरणों में नत् हो रहा हूँ, जिनके निरन्तर आर्शीवाद, वात्सल्य एवं प्रेरणा ने मुझे शैक्षणिक जीवन की इस परिपूर्णता तक पहुँचाया है। पितृतुल्य **श्री राजेन्द्र तिवारी** (विपिन चाचा) एवं श्री ईश्वर चाचा जी को भी मैं सादर नमन करता हूँ, जिनका आशीर्वाद एवं स्नेह सदैव मेरे लिए प्रेरणा बनता रहा। मेरे परमादरणीय प्रथमाग्रज **श्री अमलेन्दु नाथ मिश्र** (आयकर अधिकारी, आगरा) एवं परमादरणीया भाभीजी **श्रीमती गीता मिश्रा** के लिए मेरे पास आभार के शब्द नहीं है, जिनके स्नेह एवं आर्शीवाद ने सदैव मुझे बेहतर करने के लिए प्रेरित किया। मेरे शैक्षणिक जीवन की प्रत्येक आवश्यकता को उन्होंने अपनी आवश्यकताओं से ऊपर रखकर पूर्ण किया। अपने द्वितीयाग्रज **श्री निलेन्दु नाथ मिश्र** एवं आदरणीया भाभीजी **श्रीमती अन्जू मिश्रा** के प्रति भी मैं हृदय से आभारी हूँ। मेरे अनुज धर्मेन्दु, मेरी अनुजा सुनीता एवं विनीता, भतीजे हर्षित, भतीजियों गीतिका, प्रीतिका और श्रेया के प्रत्येक शुभ की कामना करता हूँ।

इसी क्रम में अपनी स्व-पाणिग्रहिता **श्रीमती 'निशि'** को उल्लिखित कर रहा हूँ जो अनेकानेक पारिवारिक दायित्वों से मुक्त रखकर इस शोध-प्रबन्ध के परिपूर्णार्थ मुझे अहर्निश प्रोत्साहित करती रही। उसे धन्यवाद देते हुए मेरी लेखनी मौन हो रही है, क्योंकि मेरे खामोशी की भाषा वह बेहतर समझती है।

मेरे प्रिय भान्जे **श्री संजीव दीक्षित** ने इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण कराने में जिस तन्मयता का परिचय दिया है उसे शब्दों की परिधि में बाँधना सहज नहीं है। मैं इसके सम्पूर्ण शुभत्व की कामना करता हूँ।

अपने परम मित्र **श्री आशुतोष तिवारी, श्री ऋषि रंजन गोयल** (प्रबन्धक, विपणन एवं आर्थिक सर्वेक्षण, जिला उद्योग केन्द्र, सोनभद्र) का मैं हृदय से आभारी हूँ, **जिन**का सान्निध्य नहीं रहा होता तो पठन-पाठन की कई जटिलताएं हल नहीं हुई होतीं। **श्री उमाशंकर त्रिपाठी, श्री चन्द्र मोहन उपाध्याय, श्री राकेश द्विवेदी** को उनके सहयोग के लिए धन्यवाद देता हूँ। अग्रज तुल्य **श्री प्रणविजय सिंह, श्री ब्रजेश मणि** तथा **श्री शेष कुमार पाण्डेय,** का सहयोग मुझे निरन्तर मिलता रहा, इनको सादर नमन। **श्री सुधीर पाण्डेय,** श्री सुरेश एवं महेश पाण्डेय, श्री मनोज

त्रिपाठी, श्री सुधीर मिश्र, श्री नीरज खत्री, श्री आलोक तिवारी का सहयोग भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। मैं इनके उज्जवल भविष्य की कामना करता हूँ।

इस शोध प्रबन्ध की पूर्णता में 'केन्द्रीय पुस्तकालय, इ वि वि' से जो सहयोग प्राप्त हुआ उसके लिए वहाँ के लाईब्रेरियन एवं कर्मचारी-गण धन्यवाद के पात्र हैं। 'सेन्ट्रल लाइब्रेरी, बी एच.यू.,' वाराणसी, 'भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् (आई.सी.पी आर), लखनऊ,' 'रामकृष्ण मिशन, प्रयाग' से भी समय-समय पर आवश्यक सहयोग मिलता रहा। वहाँ के समस्त कर्मचारियों को भी धन्यवाद देता हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध को यथाशीघ्र परिपूर्ण कराने में जिस उत्साह एवं आत्मीयता का परिचय अलका कम्पयूटर्स के **श्री विनोद कुमार द्विवेदी** जी इनके आत्मज द्वय विमर्श जी और विपिन जी तथा ईश्वर शरण डिग्री कालेज के कम्प्यूटर प्रोग्रामर **श्री प्रेमप्रकाश श्रीवास्तव** जी ने जो अमूल्य सहयोग दिया है वह अविस्मरणीय है। मैं सहृदय इन सभी के प्रति आभारी हूँ और इन्हें धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

अन्ततः इस शोध-प्रबन्ध के मूल्यांकन का दायित्व विद्वत् जनों के पटल पर रख रहा हूँ। यद्यपि प्रूफ संशोधन का पर्याप्त प्रयास किया गया हैं तथापि मानवीय त्रुटियों का होना स्वाभाविक है। इसके लिए शोधार्थी क्षमाप्रार्थी है। यदि इस शोध-प्रबन्ध से दर्शनशास्त्र के वैचारिक क्षेत्र में कोई नवीनता सिद्ध हो अथवा मानवीयता के उत्थान में इसके द्वारा सम्यक् योगदान मिल सके तो शोधार्थी अपने श्रम को सार्थक समझेगा।
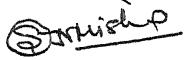
सर्वेभ्यो देवेभ्यो नमः।
सर्वेभ्यो ब्रह्मणेभ्यो नमः।

विनत्

5 मार्च 2003
(फा.शु.द्वितीया सं.2059)
4, डी.जे. छात्रावास, इ.वि.वि.

(शैलेन्दु नाथ मिश्र)

विषय-सूची

1

श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द : आविर्भावकालीन परिस्थितियाँ; संक्षिप्त परिचय तथा अद्वैत वेदान्तिक अनुप्रयोग -

1. तद्‌युगीन सामाजिक परिस्थितियाँ
2. श्री रामकृष्ण : परिचय एवं वैशिष्ट्य
3. विवेकानन्द : परिचय एवं वैशिष्ट्य
4. श्री रामकृष्ण-विवेकानन्द की वैचारिक समन्वयता एवं अद्वैत वेदान्तिक अनुप्रयोग।

श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द : आविर्भावकालीन परिस्थितियाँ संक्षिप्त परिचय तथा अद्वैत वेदान्तिक अनुप्रयोग

(1) तद्युगीन सामाजिक परिस्थितियाँ -

भारत की गौरवशाली सांस्कृतिक परम्परा ही उसकी शक्ति रही है। अपनी गौरवमयी परम्परा के कारण ही सैकड़ों वर्षो तक पराधीन रहने के बाद भी भारतीय संस्कृति विलुप्त नही हुई। अनेक विपरीत परिस्थितियो के बाद भी भारतीय संस्कृति अपनी रक्षा करने में सफल रही है। परिवर्तित परिस्थितियो के साथ-साथ ऐसे अनेकों तत्व हमारी संस्कृति में प्रवेश कर गये जिनसे देश का पतन हो सकता था। इनमें से अनेक दोष तात्कालिक हिन्दू-धर्म मे भी समाहित हो गये थे। बौद्धों के नैरात्मवाद और बिना विचार किए सन्यास ग्रहण करने की प्रथा ने भारतीय समाज को कर्म विमुख और दुर्बल कर दिया था।[1] समाज में अनेक कुप्रथायें प्रचलित हो गयी थी। हिन्दू-समाज अपने को विविध बंधनो में बाँधने लगा था। यह प्रवृत्ति आगे भी चलती रही। मुसलमानों और अंग्रेजों के आगमन के साथ भी बहुत सारी कुप्रवृत्तियाँ समाज में व्याप्त होती गयी।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षो में विज्ञान और भौतिकवाद उत्कर्ष प्राप्त करते जा रहे थे। उनके बढ़ते हुए चरण भारत के आध्यात्म-उपवन को कुचल रहे थे। वैज्ञानिक प्रगति के प्रबल प्रहारों से पुराने अंधविश्वास मिट्टी के ढ़ेर की तरह ढ़हते जा रहे थे। उनकी स्थिति, जिनके लिए धर्म केवल कुछ मतवादों और निरर्थक अनुष्ठानों का पुञ्ज-मात्र रह गया था, सोचनीय होती जा रही थी। कुछ समय के लिए तो ऐसा लगा जैसे अज्ञेयवाद और भौतिकवाद के उमड़ते ज्वार में सब कुछ विलीन हो जायेगा। भारतीय समाज जाति-पाँत, छुआ-छूत आदि

---

[1] स्वामी गभीरानन्द : युगनायक विवेकानन्द, प्रथम भाग, पृ 4

कुरीतियों में फँसकर अपने आत्म-गौरव और आत्म-बल को भूलता जा रहा था। भारत पूरी तरह पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था।

इन्हीं परिस्थितियों ने अनेकों सामाजिक एवं धार्मिक-सुधार आंदोलनो को जन्म दिया, जिसे बौद्धिक-पुनर्जागरण के रूप में देखा गया। भारत का बौद्धिक पुनर्जागरण आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के उदय का एक महत्त्वपूर्ण कारण था। जिस प्रकार इटली के पुनर्जागरण तथा जर्मनी के धर्म-सुधार आंदोलनो ने यूरोपीय राष्ट्रवाद के उदय के बौद्धिक आधार का काम किया था उसी प्रकार भारत के सुधारकों तथा धार्मिक नेताओं के उपदेशों ने देशवासियों मे स्वायत्त, आत्म-निर्णय पर आधारित राजनीतिक जीवन के निर्माण की इच्छा उत्पन्न की। भारतीय आत्मा के जागरण की सृजनात्मक अभिव्यक्ति सर्वप्रथम दर्शन, धर्म तथा संस्कृति के क्षेत्र में हुई और राजनीतिक आत्म-चेतना का उदय उसके अपरिहार्य परिणाम के रूप में हुआ।

पुनर्जागरण काल से ब्रह्माण्ड-विद्या की समस्याओं के संदर्भ में नया वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रारंभ हुआ किन्तु भारतीय पुनर्जागरण के मूल में तत्वतः नैतिक व आध्यात्मिक आकांक्षाओं का प्राधान्य था।[1]

भारतीय पुनर्जागरण में अतीत को पुनर्जीवित करने की प्रवृत्ति अधिक बलवती थी। भारतीय पुनर्जागरण आंदोलन के कुछ नेताओं ने खुले रूप में इस बात का समर्थन किया कि हमें संकल्प-पूर्वक वेदों, उपनिषदों, गीता, पुराणों आदि प्राचीन धर्म-शास्त्रों के आधार पर अपने वर्तमान जीवन को ढ़ालना चाहिए। उन्होंने उन भारतीयों की निन्दा की जो हक्सले, डार्विन, स्पेंसर आदि के विचारों से प्रभावित थे तथा जिनका जीवन दर्शन आध्यात्मिकता एवं राष्ट्र-प्रेम से पूर्णतः शून्य हो गया था। अतीत को पुनर्जीवित करने की भावना आक्रामक

---

[1] इतालवी पुनर्जागरण के पाडुआ सम्प्रदाय ने, जिनके नेता पोम्पोनात्सी और प्रेमोनिनी थे, मनुष्य के नैतिक मूल्य पर बल दिया था।

तथा अहंकारपूर्ण विदेशी सभ्यता की महान चुनौती के विरूद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुई थी। चूँकि यह सभ्यता राजनीतिक दृष्टि से अत्यधिक प्रभावी और आर्थिक दृष्टि से बलशाली थी इसलिए उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना और भी स्वाभाविक था। पश्चिम की यांत्रिक सभ्यता तथा भारत की धार्मिक एवं पुण्यसलीला संस्कृतियों के बीच इस संघर्ष से नये भारत का उदय हुआ।

इस पुनर्जाग्रत नवीन भारत के निर्माण में जिन महान शक्तियों ने योग दिया उनमें **श्री रामकृष्ण** और **विवेकानन्द** का स्थान अग्रगण्य है। भारत की यह परम्परा रही है कि यहाँ की जनता विद्या से आतंकित नही होती। विद्वानों का वह सत्कार तो करती है लेकिन उनकी पूजा और भक्ति नही। भारतीय जाति तर्क से पराजित होने वाली जाति नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि उसे नम्रता, त्याग और चरित्र से जीता जा सकता है। सिर्फ धर्म-धर्म चिल्लाने से धर्म का अर्थ स्पष्ट नहीं होता और न मोटी-मोटी पोथियाँ रच देने से धर्म किसी की समझ में आता है। रामकृष्ण देव और विवेकानन्द से पूर्व राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द आदि के प्रचारों से यह तो सिद्ध हो गया था कि हिन्दू-धर्म निन्दनीय नहीं वरन् वरेण्य है, लेकिन धर्म का यह जीता-जागता रूप तब दिखलाई पड़ा जब स्वामी रामकृष्ण परमहंस (1836-1886) का आविर्भाव हुआ।

(2) श्री रामकृष्ण : परिचय एवं वैशिष्ट्य -

जीवनवृत्त - श्री रामकृष्ण देव का जन्म पं0 बंगाल के 'हुगली' जिले के अंतर्गत **'कामारपुकूर'** नामक ग्राम में एक निर्धन किन्तु धर्मनिष्ठ परिवार में **बंगला फाल्गुन 6,1242 शकाब्द 1757 दिनाँक 17, फरवरी 1836 ई0 शुक्ल पक्ष** बुधवार की रात में हुआ था। उस समय शुभ द्वितीया तिथि पूर्व भाद्र-पद नक्षत्र के साथ संयुक्त रहने के कारण सिद्धि योग का उदय हुआ था।[1]

[1] श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, प्रथम खण्ड-स्वामी शारदानन्द, पृ. 56

श्री रामकृष्ण देव जी के बचपन का नाम **'गदाधर'**[1] था तथा उनके पिता 'खुदीराम चट्टोपाध्याय' एक धर्मपरायण, निष्ठावान एवं सदाचार सम्पन्न ब्राह्मण थे। वे रघुवीर के उपासक थे। उनकी माता 'चन्द्रमणी देवी' स्नेह, सरलता तथा दयालुता की प्रतिमूर्त्ति थी। गदाधर के परिवार के अन्य सदस्यों में श्री रामकुमार और श्री रामेश्वर उनके दो भाई तथा दो बहने-कात्यायिनी एवं सर्वमङ्गला थीं।[2]

इस छोटे से बालक को केन्द्रित कर उनके परिवार वालों को अनेक लौकिक लीलायें दिखाई देने लगीं। पाँचवें वर्ष में श्रीरामकृष्ण को विद्यारम्भ संस्कार के बाद गाँव की पाठशाला में पढ़ने भेज दिया गया। वे 'श्रुतिधर' एवं 'स्मृतिधर' थे। एक बार भी वह जो कुछ भी देख या सुन लेते थे उसे किसी प्रकार भूलते नहीं थे। यह कहना कठिन है कि श्रीरामकृष्ण के जीवन मे दिव्य भाव का विकास सर्वप्रथम कब हुआ था। पर उनका दैवीय स्वरूप शैशवकाल मे ही प्रकट होने लगा था। सात वर्ष की आयु में अकस्मात् पिता का निधन हो गया। श्री रामकृष्ण देव का पाठशाला जाना बन्द हो गया और उनके विवेकशील मानस में संसार का सच्चा स्वरूप एकदम भासित हो उठा। पितृ-वियोग की इस एक ही घटना ने इस बालक के हृदय में संसार के प्रति तीव्र वितृष्णा उत्पन्न कर दिया।

कलकत्ता के कालीमन्दिर में प्रधान-पुंजारी के रूप में पण्डित रामकुमार नियुक्त हुये। श्री रामकृष्ण देव भी झामापुकूर से वहाँ कभी-कभी आया करते थे। देव इच्छा से शीघ्र ही वे भी पूजा कार्य में नियुक्त हुये। उस समय वे इक्कीस या बाईस वर्ष के थे। कुछ दिनों तक काली मंदिर में पूजा करने के बाद श्रीरामकृष्ण के मन में प्रश्न उठा "मैं जो पूजा कर रहा हूँ, वह किसकी कर रहा

---

[1] शास्त्रयज्ञ खुदीराम चट्टोपाध्याय ने जब अपने आत्मज का जन्मलग्न देखा तो यह अत्यन्त शुभ मुहूर्त था। तो वे समझ गये कि स्वयं गदाधर विष्णु ही अपने वचन को पूरा करने आये हैं। इसलिए उन्होने नवजात शिशु का नाम 'गदाधर' रखा होगा।

[2] श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, प्रथम खण्ड-स्वामी शारदानन्द, पृ. 25

हूँ? मृण्मयी माँ की या चिन्मयी मां की? मां यदि चिन्मयी हैं तो फिर मेरे इतना रोने-पीटने के बाद भी दर्शन क्यों नही देतीं? जगन्माता के दर्शनार्थ श्रीरामकृष्ण की व्याकुलता दिन-प्रतिदिन बढ़ती गयी। एक दिन पूजा के बाद वे मंदिर में बैठे अश्रुपूर्ण नेत्रों से गाते हुये मां को भजन सुना रहे थे, उसी समय उनके मन मे विचार आया कि यदि मां के दर्शन न मिले तो फिर इस जीवन धारण से लाभ ही क्या? इतने में उनकी दृष्टि मंदिर की दीवार से लटकती हुयी तलवार पर पड़ी। उसके आघात से उसी क्षण जीवन को समाप्त कर डालने के इरादे से उन्होंने उन्मत्त की तरह झपटकर तलवार खीच ली। वे अपने गले पर प्रहार करने ही वाले थे कि सहसा उन्हें मां की ज्योतिर्मयी मूर्त्ति के दर्शन हुये और वे बेसुध होकर गिर पड़े।

1863 में वे वात्सल्य भाव की साधना में और आगे मधुर भाव की साधना में प्रवृत्त हुये। वैष्णव-शास्त्र में मधुर भाव को श्रांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि भावों की सार-समष्टि अथवा परिपूर्ति माना जाता है। मधुर भाव की साधना के समय वे स्त्री वेष धारण किये रहते थे। उस समय उनके प्रत्येक क्रियाकलाप में स्त्री-जनोचित भाव ही प्रकट होता था। श्रीराधा के भाव में मग्न हो श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए व्याकुल होकर वे करुण विलाप करते। इस अवस्था में उन्हें श्रीराधिका और श्रीकृष्णके दर्शन हुये।[1]

वे मधुर भाव में सिद्धि प्राप्त करने के बाद पंच-भाव साधना में तल्लीन हुये और उसके सर्वोच्च शिखर पर आरुढ़ हो गये। **यह शिखर अद्वैत भाव की साधना का था**, जहाँ उन्होंने परिव्राजक श्री तोतापुरी जी से शिक्षा ली। **अद्वैत भाव की शिक्षा देने वाले 'तोतापुरी' ने ही 'गदाधर' को 'श्रीरामकृष्ण' की उपाधि दी थी।**[2]

---

[1] श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग प्रथम खण्ड- स्वामी शारदानन्द, पृ 323

[2] श्री रामकृष्ण, रोमाँ रोला, पृ. 58

अपने पुत्र को बाहर से बहुत कुछ शान्त देखकर चन्द्रमणी देवी थोड़ी आश्वस्त हुयीं। पुत्र रामेश्वर तथा अन्य सगे सम्बन्धियों के साथ विचार-विमर्श करने के बाद वे गुप्त रूप से उसके विवाह का आयोजन करने लगी। एक दिन भावाविष्ट हो श्री रामकृष्ण देव ने चन्द्रमणी देवी से कहा कि 'जयरामवाटी' के रामचन्द्र मुखोपाध्याय की कन्या (मेरे लिये) चिन्हित कर रखी हुयी है देखो जाकर। पर कन्या बहुत ही छोटी थी। अभी उसे सिर्फ छठा साल लगा था। होनहार जानकर चन्द्रमणी देवी ने उसी कन्या के साथ अपने पुत्र का विवाह तय कर दिया। 1858 ई0 के मई माह में यह परम सुविवाह सम्पन्न हुआ।

एक दिन उन्होंने माँ काली से कहा - माँ! मैं तो पढ़ना लिखना नही जानता तू ही कृपा करके मुझे सभी धर्मो का, सभी शास्त्रों का सार बतला दे। तदुपरान्त माँ जगदम्बा की कृपा से विभिन्न धर्मों के विभिन्न भावों के आचार्य और धर्मगुरू दक्षिणेश्वर आने लगे और श्री रामकृष्ण देव को क्रमशः विविध धर्मो की साधना में दीक्षित करने लगे।

श्री रामकृष्ण देव आद्याशक्ति की विशेष इच्छा से छः महीने तक लगातार निर्विकल्प समाधि में अवस्थान किये थे। जगदम्बा की इच्छा से वे जान गये थे कि वे ईश्वर के अंश हैं। कभी वे स्वयं को निर्गुण सगुण ब्रह्म, ईश्वर या जगदम्बा का अंश मानते तो कभी पूर्ण ब्रह्म-सनातन। इस प्रकार वे निर्विकल्प-सविकल्प, अद्वैत-द्वैत, विज्ञान-पराभक्ति की अवस्थाओं में विचरण किया करते थे। इस समय श्री रामकृष्ण देव जाति-स्मरत्व की सहायता से ठीक-ठीक समझ गये थे कि वे नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाववान हैं, अवतारपुरुष हैं और वर्तमान युग की धर्म ग्लानि को दूरकर लोक-कल्याण साधने के लिये ही उन्होंने देह धारण किया है।

इस प्रकार, विभिन्न धर्ममार्गो की साधना द्वारा उसी एक परम सत्य की उपलब्धि कर उन्होंने संसार के सम्मुख सर्वधर्म समभाव का आदर्श प्रतिष्ठित किया।[1]

इस प्रकार जब उनके भीतर अंतर्निहित दिव्य-भाव पूर्ण विकसित हो चुका था तब वे जगत्गुरु पद पर प्रतिष्ठित हो जीव-कल्याण के कार्य में रत हुये। विभिन्न सम्प्रदायों एवं श्रेणियों के साधकों के भीतर यथार्थ सत्य को जागृत करते हुये वे उन्हें अपनी अभिनव, उदार भावधारा से आप्लावित करने लगे। इस समय अनेक पाश्चात्य शिक्षासम्पन्न सुप्रसिद्ध व्यक्तियों 'ब्रह्मसमाज' के केशव सेन, विजयकृष्ण गोस्वामी, शिवनाथ शास्त्री आदि नेताओं के सम्पर्क में आकर श्री रामकृष्ण देव को बंगाल के शिक्षित समुदाय के मनोभावों से परिचित होने का अवसर मिला। वे सुविख्यात व्यक्तियों से परिचित हो गये जिनमें पं0 ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंकिमचन्द्र चटर्जी, माइकल, मधुसूदन दत्त, चूड़ामणि, कृष्णदास पाल, अश्विनी कुमार दत्त के नाम उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त संसार के विभिन्न वर्गों के लोग उनके सम्पर्क में आये। इन भक्तों के जीवन को गठित कर इन्हें युग-धर्म प्रचार का योग्य माध्यम बनाने के लिये तथा संसार के विविध तापों से तप्त असंख्य जीवों का दुःख दूर करने के लिये श्री रामकृष्ण देव ने अपनी आयु के अंतिम छः वर्षों में मानो छः युगों का कार्य सम्पादित कर दिया।[2]

1885 ई0 में उन्हें गले की बीमारी हो गयी और यह रोग असाध्य कैंसर में परिवर्तित हो गया। कलकत्ता ले आये जाने पर उन्हें पहले 'श्यामापुकूर' नामक मुहल्ले में तथा फिर दो महीने काशीपुर में रखा गया। यहाँ भी बीमारी की अवस्था में ही उनकी भाव-समाधि, उपदेश, दान आदि का क्रम जारी रहा।

---

[1] अमृतवाणी (श्रीरामकृष्ण देव के उपदेशो का वृहत् संग्रह), पृ. 25

[2] श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग- स्वामी शारदानन्द, पृ. 85

उन्होंने असंख्य नर-नारियों को अभयदान आदि देते हुये अमृतत्व का संधान किया। इसी मकान में उन्होंने **11 त्यागी भक्तों को गेरुआ वस्त्र प्रदान कर रामकृष्ण-संघ की स्थापना की।**[1]

रविवार 15 अगस्त 1886, को मध्य-रात्रि के बाद भगवद्नाम का उच्चारण कर वे समाधिमग्न हो गये और उनकी यह समाधि महासमाधि मे परिवर्तित हो गयी।

स्वामी रामकृष्ण दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय तथा केशवचन्द्र सेन आदि से अनेक बातों में भिन्न थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती भारतीय परम्परा के उद्भट पण्डित तथा केशवचन्द्र सेन पाश्चात्य चिन्तन की दृष्टि से प्रभावित थे। इनकी तुलना में परमहंस अपेक्षाकृत अल्पशिक्षित व्यक्ति होते हुये भी अद्भुत आध्यात्मिक प्रतिभा और दार्शनिक चेतना से सम्पन्न व्यक्ति थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन मैदान में इसलिये आये थे कि विधर्मियों की आलोचना से उन्हें चोट लगी थी। किन्तु, रामकृष्ण देव को किसी भी धर्म के प्रति कोई आक्रोश नही था। स्वामी दयानन्द सरस्वती, राममोहन राय और केशवचन्द्र संस्कृति के आंदोलनकारी नेता थे किन्तु रामकृष्ण देव का आंदोलन से कोई सरोकार नहीं था। वे कभी अपनी बातें सुनाने आश्रम से बाहर नहीं गये और न ही हिन्दुओं से उन्होंने कभी यह कहा कि **'तुम्हारा धर्म खतरे में है।**[2]

उन्नीसवीं सदी के सुधारकों के सामने विचित्र प्रकार की परिस्थिति थी। हिन्दू-धर्म बहुत दिनों से रूढ़ियों और अंधविश्वासों से जकड़ा चला आ रहा था। किन्तु अब अंग्रेजी-शिक्षा के प्रसार एवं ईसाइयों के कुप्रचार से वे रूढ़ियाँ और अंधविश्वास स्पष्ट दिखाई देने लगे थे। अंग्रेजी-भाषा और साहित्य के साथ

---

[1] श्री रामकृष्ण देव- रोमाँ रोला, पृ. 57

[2] संस्कृति के चार अध्याय- रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 570-71

भारतवर्ष का सम्बन्ध काफी सघन हो चुका था किन्तु, दुर्भाग्यवश तत्कालीन अंग्रेजी-साहित्य में नास्तिकता के ओजस्वी विचार प्रधान होते जा रहे थे एव उन्नीसवी शताब्दी में वैज्ञानिक अनुसंधानों के द्वारा जिन आधिभौतिक सिद्धान्तो का पता चला था उनसे भी यह साहित्य पूर्ण-रूपेण व्याप्त था।

इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी-भाषा के प्रचार के साथ ही भारत मे भी नास्तिकता का प्रचार होने लगा। अतएव भारतीय धर्म एवं संस्कृति के सामने एक नहीं तीन शत्रु थे- **पहला**, हिन्दू धर्म और उसकी रूढ़ियाँ तथा अंधविश्वास; **दूसरा**, ईसाई मिशनरियों के द्वारा निरन्तर की जाने वाली हिन्दुत्व की निंदा और भ्रांत-व्याख्या तथा **तीसरा**, अंग्रेजी पढ़े लिखे समाज में नास्तिकता का प्रचार। इन तीन मोर्चों पर लड़ने के लिये जो ढंग और साधन अनिवार्य थे उनका संधान केशवचन्द्र सेन जैसे चिन्तकों ने कर लिया था, किन्तु धर्म वास्तव में कैसा होता है? इसका प्रमाण वे नहीं दे सके थे।[1]

वाद-विवाद, तर्क और पाण्डित्य अथवा बड़े-बड़े सिद्धान्तों और संगठनों से धर्म की सिद्धि नहीं होती। धर्म अनुभूति की वस्तु है और धर्मात्मा भारतवासी उसी को मानते आये हैं, जिसने धर्म के महा-सत्यों को केवल जाना ही नही अपितु उनका अनुभव और साक्षात्कार भी किया। श्री रामकृष्ण देव के आगमन से धर्म की यही अनुभूति प्रत्यक्ष हुई। उन्होंने अपने जीवन से यह बता दिया कि धार्मिक सत्य केवल बौद्धिक अनुमान की वस्तु नहीं है। वे प्रत्यक्ष अनुभव के विषय हैं और उनके सामने संसार की सारी तृष्णाएं सारे सुख-भोग तृणवत् और नगण्य हैं।

जब आस्तिक और नास्तिक हिन्दू, ईसाई और मुसलमान आपस में इस प्रकार लड़ रहे थे कि किसका धर्म ठीक है और किसका नहीं तब रामकृष्णदेव ने सभी धर्मों के मूलतत्त्व को अपने जीवन में साकार करके मानो सारे विश्व को

---

[1] संस्कृति के चार अध्याय- रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 572

यह संदेश दिया कि **धर्म को शास्त्रार्थ का विषय मत बनाओ, हो सके तो उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति के लिये प्रयास करो**। सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर ले जाने वाले अनेक मार्ग हैं और रामकृष्ण देव का जो उपदेश था उसे उन्होंने अपने जीवन में उतारा। भारतवर्ष की धार्मिक समस्या का जो समाधान परमहंस ने प्रस्तुत किया है, उससे बड़ा और अधिक उपयोगी साधन और कोई नहीं हो सकता। क्रमशः वैष्णव, शैव, शाक्त, तांत्रिक, अद्वैतवादी मुसलमान और ईसाई बनकर श्री रामकृष्ण देव ने यह सिद्ध कर दिखाया कि **धर्मों के बाहरी रूप तो केवल दिखावा मात्र ही हैं उनसे उनके मूल तत्त्व पर कोई फर्क नहीं पड़ता**। साधन और मार्ग अनेक हैं उनमें से मनुष्य किसी को भी चुन सकता है। शांति मार्ग से नहीं अनुभूति से मिलती है। जब तक तुम अनुभूति की ऊचाई पर हो तब तक यह सोचना व्यर्थ है कि तुम हिन्दू हो या मुसलमान।

श्री रामकृष्ण देव के भीतर अहंकार का नाम तक नहीं था। वे कहा करते थे कि 'ईश्वर ही एकमात्र सत्य गुरू, पिता या माता है। वही कर्त्ता है। मैं हीन से भी हीन हूँ। दास का भी दास। शरीर के एक रोयें के बराबर हूँ और एक रोयें के भी बराबर नहीं हूँ।'[1]

श्री रामकृष्ण देव का मानना था कि भाव-मुख अवस्था में पहुँचकर ही- 'मैं अमुक की संतान हूँ, पिता हूँ, ब्राह्मण हूँ अथवा शूद्र हूँ इत्यादि सारी बातें मन से एकदम दूर हो जाती हैं तथा अपने मन में सर्वदा यही अनुभव होता है कि मैं वही विश्वव्यापी ब्रह्म हूँ। वे कहते थे कि अद्वैतज्ञान को आंचल ज्ञान से बाँधकर जो इच्छा हो सो करो।'[2]

श्री रामकृष्ण देव 'अद्वैत', 'विशिष्ट द्वैत' तथा 'द्वैत' सभी भावों को मानते थे, किन्तु वे यह भी मानते हैं कि उक्त तीनों प्रकार के मत मानव मन की उन्नति

---

[1] श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, द्वितीयखण्ड, पृ. 87

[2] श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, द्वितीयखण्ड, स्वामी शारदानन्द, पृ. 95

के अनुसार उत्तरोत्तर आकर उपस्थित होते हैं। किसी स्थिति में द्वैतभाव का उदय होता है तब ऐसा प्रतीत होता है कि मानों शेष दोनों भाव मिथ्या है। धर्मोन्नत के उच्चतर सोपान पर आरूढ़ होने के पश्चात् किसी दूसरी स्थिति मे विशिष्ट द्वैत उपस्थित होता है उस समय ऐसा अनुभव होता है कि नित्य निर्गुण वस्तु लीला में सदा सगुण बनी हुई है। तब द्वैतवाद मिथ्या प्रतीत होता है और अद्वैतभाव की उत्पत्ति होती है।[1]

इसी परिप्रेक्ष्य में श्री रामकृष्ण देव जी आगे कहते हैं कि शांत, हास्य आदि तथा अद्वैतभाव की उपलब्धि के तारतम्य के बारे में कोई यह न समझे कि ईश्वरावतार वर्ग भी भावराज में किसी सीमा के अन्दर आबद्ध रहते हैं। वे अपनी इच्छानुसार शांत, उन्मादि भावों में से किसी भी भाव को अपने जीवन मे पूर्णतया प्रदर्शित करने में समर्थ है, किन्तु वे केवल अद्वैतभाव का अवलम्बन कर भगवान के साथ एकत्व अनुभव में ही अग्रसर हो सकते हैं। जीवनमुक्त, नित्यमुक्त आदि ईश्वर कोटि किसी भी जीव के लिए सम्भव नहीं है।[2]

स्वामी रामकृष्णदेव जी कहते हैं कि एकनिष्ठ बुद्धि, दृढविश्वास एवं प्रगाढ़ भक्ति की सहायता से जब साधक की सारी वासनाएं क्षीण हो जाती है तब भगवान के साथ अद्वैत भाव में अवस्थित होने का समय आ जाता है। जब कभी किसी व्यक्ति में पूर्व संस्कारवश 'मैं कल्याण करूंगा' तथा 'जिससे अनेक लोग सुखी बन सकें वही कार्य करूंगा' इस प्रकार की शुद्ध भावना का जन्म होता है, तभी ईश्वर के साथ एकाकार हो जीव की मुक्ति होती है।[3]

जब रामकृष्ण देव दक्षिणेश्वर के काली मंदिर में साधना किया करते थे, तब उन्होंने उस मंदिर में स्थापित जगत्जननी की मूर्त्ति— जिन्हें 'प्रकृति' या

---

[1] श्री रामकृष्ण कथामृत, द्वितीय खण्ड, श्री महेन्द्र नाथ गुप्त पृ. 325

[2] श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, द्वितीय खण्ड, स्वामी शारदानन्द पृ. 41

[3] श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, द्वितीय खण्ड, स्वामी शारदानन्द पृ. 40

'काली' कहा जाता था— के विषय में कहा था कि एक स्त्री मूर्ति एकपुरुष मूर्तिपर खड़ी है। इसका अर्थ यह है कि **माया के आवरण को हटाये बिना हम ज्ञान लाभ नहीं कर सकते। ब्रह्म निर्लिंग है वह अज्ञात और अज्ञेय है।**[1]

श्री रामकृष्ण देव आजीवन बालकों के समान सरल और निश्छल रहे। आजीवन वे उस आनन्द में डूबे रहे जिसके दो-एक छीटो से ही जन्म जन्म की तृष्णा शांत हो जाती है। आनन्द उनका धर्म, अतीन्द्रिय रूप का दर्शन उनकी पूजा और विरह उनका जीवन था। उनका चरित्र एक ऐसे महापुरुष का चरित्र है, जो जीवन के अंतिम सत्य अर्थात् अतीन्द्रिय वास्तविकता के उत्स के सामने खड़ा होता है। दृश्य की ओर से चलकर दयानन्द, केशव चन्द्रसेन एवं थियोफिस्ट लोगों ने जिस सत्य की ओर संकेत किया, अदृश्य की ओर से आकर रामकृष्ण परमहंस ने उस सत्य को अपने ही जीवन में साकार कर दिया। रामकृष्णदेव अपने समकालीन अन्य सुधारकों एवं संतों की भाँति साँसारिक जगत् के न होकर दैवीय अवतार के सदृश हैं। भारतीय जनता की पांच हजार वर्ष पुरानी धर्म साधनारूपी लता पर रामकृष्ण परमहंस सबसे नवीन पुष्प बनकर चमके और उन्हें देखकर भारतीय जनता को फिर से यह विश्वास हो गया कि भारत में धर्म की अनुभूति जगाने वाले जिन अनन्त ऋषियो और सन्तों की कथाएं सुनी जाती हैं, वे असत्य नहीं हैं।

यद्यपि रामकृष्ण परमहंस के सहजोद्गारों में समन्वयात्मक दृष्टि और भक्ति-भाव की सरलता एवं आध्यात्मिक दिव्यता तो थी परन्तु उनमें तार्किक तीक्ष्णता का अभाव था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी वेदों के आधार पर समाज में प्रचलित वाह्य आडम्बरों एवं कुरीतियों का उच्छेदन करने का प्रयत्न किया, परन्तु स्वामी जी के सिद्धान्तों में समन्वय एवं सामंजस्य का अभाव एवं कट्टरता की

---

[1] विवेकानन्द साहित्य, सप्तम खण्ड, पृ 31

भावना अधिक थी। स्वामी जी के सिद्धान्त वेदों के प्रति श्रद्धा रंखने वाले भारतीयों के लिए तो अनुकूल हो सकते थे, परन्तु विचार क्षेत्र मे केवल युक्ति को ही कसौटी मानकर चलने वाले पश्चिमी दार्शनिकों को वे प्रभावित नही कर पा रहे थे। आचार्य शंकर के समय जिस प्रकार ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी थीं कि बौद्ध दार्शनिकों को केवल श्रुतियों की अपौरूषेयता की दुहाई देकर परास्त नहीं किया जा सकता था, उसी प्रकार यह समय भी वेदों की अपौरूषेयता की दुहाई देने का नही था। इस समय एक ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जो विज्ञान एवं भौतिकता के आक्रमण को विशुद्ध तर्क के शरो से रोकता और आध्यात्म तत्त्व की युक्तिसंगत व्याख्या करता, जो विभिन्न प्रकार के मत-मतान्तरों में से सबको जोड़ने वाली कड़ियों को ढूॅढ निकालता और उनके पारस्परिक विद्वेष को कम करता। स्वामी विवेकानन्द का जन्म ऐसे ही तिमिराच्छन्न काल में हुआ।

(3) विवेकानन्द : परिचय एवं वैशिष्ट्य -

जिस प्रकार हनुमान का विचार किये बिना हम श्री रामचन्द्र जी का विचार नहीं करते, अर्जुन का स्मरण किये बिना हम भगवान श्रीकृष्ण का विचार नही कर सकते। जैसे बुद्धदेव के साथ आनन्द एवं ईसा-मसीह के साथ सेंट पॉल का विचार हमें करना पड़ता है, वैसे ही विवेकानन्द का विचार किये बिना स्वामी रामकृष्ण के बारे में सोचना अधूरा ही होगा। श्रीरामकृष्ण मानो मूल स्रोत हैं और स्वामी विवेकानन्द उस स्रोत के जल को बहा ले जाने वाला प्रवाह। स्वामी विवेकानन्द उनके प्रधान शिष्य थे। उनके अत्यन्त प्रिय-पात्र थे। उनके महान उत्तराधिकारी थे। उनके यथार्थ भाष्यकार थे तथा उनके अत्यन्त कुशल कर्मचारी भी थे।

स्वामी विवेकानन्द जी के बचपन का नाम **'नरेन्द्रनाथ दत्त'** था। नरेन्द्र का जन्म कलकत्ता नगरी के उत्तर भाग में सिमुलिया मुहल्ले में 'गौर मोहन

मुकर्जी स्ट्रीट' कै दत्त परिवार के विशाल भवन में **सोमवार 12 जनवरी 1863 ई0** में पौष संक्रान्ति के दिन हुआ था।[1]

नरेन्द्र के पिता **श्री विश्वनाथ दत्त** एवं माता **भुवनेश्वरी देवी** थी। विश्वनाथ दत्त के दरवाजे से कभी कोई दीन निराश नही लौटता था। संगीत से उन्हें बहुत प्रेम था। विश्वनाथ दत्त आधुनिक विचारधारा में रचे-बसे थे। शिक्षित समाज की विचार-धाराओं से वे पूर्ण परिचित थे।[2]

नरेन्द्र की माता भुवनेश्वरी देवी सरल ह्दय की धर्मपरायण महिला थी। अपनी सूझ-बूझ कार्यकुशलता एवं धैर्यशीलता के कारण वे सबकी प्रिय थीं। शिव जी के आशीर्वाद से नरेन्द्र की प्राप्ति हुई है, इसी धारणा से भुवनेश्वरी देवी उन्हें **'बीलू'** (वीरेश्वर का छोटा संस्करण) नाम से संबोधित करती थी। आत्मीयजन उन्हें बिले नाम से पुकारते थे। नरेन्द्र के दो भाई महेन्द्र और भूपेन्द्र तथा दो बड़ी बहनें भी थीं।

बालक नरेन्द्र बचपन से ही बड़े नटखट स्वभाव के थे। 'भय' किसे कहते हैं, वे जानते ही न थे। वे बाल्यकाल से ही तर्कहीन मत को स्वीकार नहीं करते थे। वे घर एवं पास पड़ोस में सभी के दुलारे थे। उनमें अत्यधिक जोश व उत्साह भरा हुआ था। उन पर शासन करना तो किसी के वश की बात ही न थी।[3]

उनके मन में साधुओं के प्रति असीम श्रद्धा थी। नौकरों और भाइयों से वे विशेष प्रकार का व्यवहार करते थे। उन्हें पशु-पक्षियों और प्रकृति से भी प्रेम था। पढ़ाई लिखाई में वे बहुत ही होशियार थे। उनका पठन एवं अध्ययन विलक्षण था। उनकी ग्रहण क्षमता अपूर्व थी, स्मरण-शक्ति अलौकिक थी तथा

---

[1] स्वामी विवेकानन्द एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृ. 19

[2] स्वामी विवेकानन्द एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृ. 19

[3] विवेकानन्द चरित्र, सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, पृ. 20

आयु की तुलना में विवेक-शक्ति भी अद्भुत थी। बाल्यकाल से ही उनमें उच्च आध्यात्मिक चेतना तथा गम्भीर ध्यानमयता दिखाई देता था। बाल्यकाल मे ही उनमें अनेक विलक्षण शक्तियों का प्रस्फुटन होने लगा जो सामान्यतः उनकी आयु के बालकों में बिल्कुल ही नहीं दिखाई पड़ती है। बालक नरेन्द्रनाथ निडर और साहसी थे। विद्यालय तथा महाविद्यालय में पढ़ते समय वे अत्यन्त प्रतिभावान विद्यार्थी के रूप में प्रसिद्ध थे।[1]

नरेन्द्र का शैशव और बाल्य-काल यूरोपीय पुनर्जागरण काल के कला-प्रेमी राजकुमारों सा रहा। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी और सभी दिशाओं मे उन्होंने उसका विकास किया। उनका रूप सिंह शासक सा प्रभावशाली और मृग का सा कोमल था। उनका कण्ठ बड़ा सुरीला था, जिस पर श्री रामकृष्ण देव भी मुग्ध थे।[2]

नरेन्द्र शिशु-काल से ही हिन्दू घरों में एक लम्बे समय से माने जाने वाले लोकाचार और देशाचार का विरोध करते थे उन्हें और मानने से इंकार कर देते थे। मां के झुझला पड़ने पर वे तुरंत ही इसका कारण पूछ लेते। जैसे— हाथ की थाली छूकर बदन पर हाथ लगाने से क्या होता है? बाये हाथ से जलपान उठाकर जल पीने से हाथ क्यों धोना पड़ता है, जब कि हाथ मे तो जूठन लगा नहीं?[3] चंचल प्रकृति का बालक होने पर भी उनके चरित्र मे बचपन से ही साधारण बालकों की अपेक्षा कुछ अधिक वैशिष्ट्य देखने को मिलता था।

छः वर्ष की अवस्था में नरेन्द्र ने 'व्याकरण-मुक्तिबोध' तथा 'रामायण' और 'महाभारत' के बहुत से श्लोकों तथा चौपाइयों आदि को कण्ठस्थ कर लिया था। सात वर्ष की अवस्था में नरेन्द्र ने अंग्रेजी, बंगला-साहित्य और भारतीय

---

[1] विवेकानन्द, रोमाँ रोला, पृ. 30

[2] विवेकानन्द, रोमाँ रोला, पृ. 36

[3] विवेकानन्द चरित, सत्येन्द्र नाथ मजूमदार, पृ. 13

इतिहास का ज्ञान प्राप्त कर लिया। प्रथम श्रेणी में हाईस्कूल की परीक्षा पास करने के बाद वे कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कालेज मे भर्त्ती हुये। इस कालेज मे नरेन्द्र ने अंग्रेजी-साहित्य, यूरोपीय-इतिहास, पाश्चात्य-दर्शन, विज्ञान, कला, संगीत और चिकित्सा- विज्ञान का अध्ययन किया। पाश्चात्य दार्शनिकों में स्पेंसर, मिल, काण्ट और सोपेनहॉवर में उनकी विशेष रुचि थी। इन दार्शनिकों के गम्भीर अध्ययन ने उन्हें सर्वतोमुखी प्रतिभा का धनी-व्यक्ति बना दिया।

युवक नरेन्द्र जिज्ञासु था। ब्रह्म-साक्षात्कार के बिना उसकी जिज्ञासा तृप्त नहीं हो सकती थी। इसी जिज्ञासा की तृप्ति हेतु वह महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर से मिला। मिलते ही उसने उनसे पूछा- 'श्रीमान् क्या आपने ईश्वर का दर्शन किया है'? महर्षि इस प्रश्न को सुनकर आश्चर्यचकित हो गये। अपनी इस आध्यात्मिक जिज्ञासा की पूर्ति के लिये वह एक धार्मिक नेता के बाद दूसरे धार्मिक नेता से मिलता रहा पर किसी ने उसकी जिज्ञासा की पूर्ति नहीं की।

प्रिंसिपल हेस्टी ने एक बार नरेन्द्र को श्री रामकृष्ण देव के विषय मे बताया था। इस बात का पता लगाने के लिए कि क्या सचमुच श्रीरामकृष्ण ने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है, युवक नरेन्द्र दक्षिणेश्वर गया। नास्तिक नरेन्द्र ने उनसे प्रश्न किया- 'श्रीमान् क्या आपने ईश्वर साक्षात्कार कर लिया है?' श्रीरामकृष्ण ने उतनी ही सरलता से उत्तर दिया— 'हाँ!' ईश्वर को मैं उसी प्रकार देखता हूँ जिस प्रकार की तुम्हें देख रहा हूँ। इस उत्तर से नरेन्द्र प्रभावित तो हुआ, किन्तु उनके उन्माद को देखकर उसे सहसा उनकी बातों पर विश्वास न हुआ। परन्तु एक-दो बार मिलने के बाद नरेन्द्र की आँखें खुली और उसने श्री रामकृष्ण की गुरूता को पहचाना। उनकी बातों पर सहसा उसे विश्वास होने लगा।

नरेन्द्रनाथ के मन में सारे अंतर्द्वन्द चल ही रहे थे कि एक दिन उसके पिता श्री विश्वनाथदत्त की मृत्यु हो गयी। पिता की मृत्यु के बाद परिवार को

अभूतपूर्व आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जैसे-जैसे कठिनाईयाँ बढ़ती गयी उसका ईश्वर मे विश्वास भी बढ़ता गया। उसने सोचना प्रारंभ किया कि यदि ईश्वर का अस्तित्व न होता तो मनुष्य के अस्तित्व का कोई मूल्य ही न होता। अपने गुरु के चरणों में आसीन हो उसने वेदान्त और उसे प्राप्त करने की विधि निर्विकल्प-समाधि की शिक्षा ग्रहण की। सम्पूर्ण प्राचीन ज्ञान का रहस्य उन्हें श्री रामकृष्ण देव से प्राप्त हुआ। मृत्यु के पहले श्री रामकृष्ण देव ने एक धर्मसंघ की स्थापना की थी, जिसके प्रमुख स्वामी विवेकानन्द हो गये। आध्यात्मिकता की वृद्धि और मानवता की सेवा करना ही इस संघ का उद्देश्य था। इन दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु सन् 1888 ई0 में वे भारत-भ्रमण के लिये निकले।

स्वामी जी का उद्देश्य केवल आत्मरक्षा ही नही बल्कि आत्म-ज्ञान, आत्म-श्रद्धा और आत्म-समाधि प्राप्त करना तथा समाज के अन्य लोगों को इस दिशा में लाभ पहुँचाना था। इस क्षेत्र में स्वामी विवेकानन्द जी ने वह कार्य कर दिखाया जिसे शंकराचार्य के बाद अन्य किसी महापुरुष ने करने का साहस नहीं किया था। तत्कालीन परिस्थितियों में यह सोचा भी नहीं जा सकता था कि प्राचीन भारतीय आर्यों की एक सन्तान अपनी तपस्या के बल पर इंगलैण्ड तथा अमेरिका के विद्वानों को यह मानने पर विवश कर देगी कि 'प्राचीन हिन्दू धर्म अन्य सब धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ है'।[1]

स्वामी विवेकानन्द जी प्राचीन भारत के गौरव को स्थापित करना चाहते थे। वे अपने देश की अव्यवस्था से अत्यन्त चिन्तित थे। उन्होंने कहा कि यह एक अस्त व्यस्तता का युग है। समाज की बिगड़ी हुई अवस्था का सुधार करने के लिए जो भी सामाजिक व धार्मिक आन्दोलन हुये वे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल सिद्ध नहीं हो पाये। इन आंदोलनों की भी वही परम्परा थी, जो

---

[1] विवेकानन्द साहित्य, पंचमखण्ड, पृ. 241

दिल्ली साम्राज्य के प्रभुत्व काल में उत्तर-भारत के सम्प्रदायों की थी। इन दिनो विजयी जाति के साथ आध्यात्मिक असमानता की अपेक्षा सामाजिक असमानता बहुत अधिक थी। गोरे शासकों का समर्थन प्राप्त करना ही इस शताब्दी के हिन्दू- सम्प्रदायों ने अपना प्रमुख लक्ष्य बना रखा था। इन सम्प्रदायों की स्थिति भी कुकुरमुत्तों जैसी हो गयी थी। ये सम्प्रदाय भारतीय जनमानस से अलग होते जा रहे थे।[1]

स्वामी विवेकानन्द जी ने गुरू रामकृष्ण देव के द्वारा निर्धारित किये गये मार्ग पर चलते हुये समाज सुधार के कार्य को आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया। वे मानते थे कि राष्ट्र के पास धर्म और परम्पराओं की वह अमूल्य धरोहर है, जिसके आधार पर ही देश की सभी सामाजिक व राजनैतिक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।[2]

भारत-भ्रमण के दौरान स्वामी विवेकानन्द ने भारत की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता के दर्शन किये। उन्हें भारत की महानता व गरिमा का बोध हुआ। उन्होने अपनी आँखों से देखा कि वो भारत, जो प्राचीन काल में सुख-समृद्धि व सभ्यता के उच्च शिखर पर था आज अज्ञानता, दरिद्रता और बीमारी में आकण्ठ डूबा हुआ है। उसी समय उन्होंने भारत से इन बुराइयों को दूर करने का व्रत लिया।

अपनी यात्रा के दौरान ही उन्हें पता लगा कि **1893 में अमेरिका के 'शिकागो' में 'धर्म-संसद' का आयोजन हो रहा है**। उन्होंने उसमें भाग लेने की इच्छा व्यक्त की। धर्म संसद में भाग लेने के उनके दो उद्देश्य थे। **पहला** तो यह कि वे अन्य धर्मों के ऊपर हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना चाहते थे और **द्वितीय** यह कि वे भारत की गरीबी के निराकरण के लिए अमेरिका की

---

[1] विवेकानन्द साहित्य, दशम खण्ड, पृ. 125

[2] विवेकानन्द साहित्य, दशम खण्ड, पृ. 125

समृद्धि का सहयोग प्राप्त करना चाहते थे। स्वामी विवेकानन्द का दृढ़ विश्वास था कि 'बुभुक्षितो को धर्म की शिक्षा नही दी जा सकती और धर्म के बिना मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।' अतः उन्होने भारत की गरीबी दूर करने का भीष्म-व्रत लिया।[1]

स्वामी विवेकानन्द ने 31 मई 1893 ई0 को बम्बई से अपनी अमेरिका यात्रा प्रारंभ की। लंका, सिंगापुर, हांगकांग और नागासाकी होते हुये वे जुलाई के मध्य तक शिकागो पहुँचे। इस यात्रा से उन्हें एशिया की सांस्कृतिक एकता का दर्शन हुआ और इसमें भारतीय योगदान की भी उन्हें झांकी देखने को मिली।

शिकागो पहुँचने पर जब उन्होंने अमेरिका की शक्ति, धन, सृजनात्मक प्रतिभा और समृद्धि को देखा तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। 12 दिन बाद वे शिकागो के सूचना-केन्द्र पहुँचे। वहाँ पता चला कि धर्म-संसद में भाग लेने के लिए पंजीकरण असंभव है और यदि पंजीकरण संभव भी है तो वह आधिकारिक परिचय पत्र के बिना नहीं हो सकता। विवेकानन्द के पास इस प्रकार का कोई परिचय-पत्र नहीं था। उन्हें परिचय-पत्र की आवश्यकता भी न थी। वे जहां कहीं भी जाते लोगों के आकर्षण का केन्द्र बन जाते थे। एक दिन जब वे ट्रेन से 'बोस्टन' की यात्रा पर थे, उसमें 'मैसेचुसेट्स' की एक धनी महिला से उनकी भेंट हो गयी। उस महिला ने स्वामी जी को हार्वर्ड विश्वविद्यालय के यूनानी विभाग के प्राध्यापक 'जे0 एच0 राईट' से मिलवाया प्रो0 राईट स्वामी विवेकानन्द की विद्वता और ज्ञान से इतने अधिक प्रभावित हुये कि उन्होंने अपने मित्र और धर्म-संसद के लिए चुने जाने वाले प्रतिनिधियों की चयन-समिति के अध्यक्ष 'डॉ0 वैरो' को पत्र लिखा— **"यहाँ एक ऐसा व्यक्ति है जो हमारे सभी प्राध्यापकों के संयुक्त ज्ञान से भी अधिक ज्ञान रखता**

---

[1] सक्सेना लक्ष्मी डॉ0 (सं0)- समकालीन भारतीय दर्शन, उ0प्र0 हिन्दी संस्थान, 1991, पृ 60-61

है।'' उन्होंने स्वामी जी को शिकागों के लिए एक रेलवे टिकट और चयन-समिति के लिए एक संस्तुति-पत्र दिया और कहा कि स्वामी जी धर्म-संसद मे हिन्दू-धर्म का प्रतिनिधित्व करेगे।

सोमवार 22 सितम्बर 1893 ई0 को धर्म-संसद का प्रथम अधिवेशन 'कोलम्बस हाल' में प्रारम्भ हुआ। शाम के अधिवेशन में अध्यक्ष ने स्वामी जी से अपना भाषण देने का अनुरोध किया। अमेरिका वासियो को संबोधित करते हुये उन्होंने कहा— **'बहनों और भाइयों! हिन्दू-धर्म सभी धर्मों का जनक है। यह वह धर्म है जिसने संसार को सहिष्णुता और सार्वभौमिकता का पाठ पढ़ाया।** अपनी बात को पुष्ट करने के लिए स्वामी जी ने **'शिवमहिम्नस्त्रोत'** और **'गीता'** से निम्न दो पद सुनाये-

''जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न-भिन्न स्त्रोतों से निकलकर समुद्र मे मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभु! भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे रास्ते से जाने वाले लोग अन्त में तुझमें ही आकर मिल जाते हैं।''[1]

तथा 'जो कोई मेरी ओर आता है चाहे किसी प्रकार से हो मैं उन्हें प्राप्त होता हूँ। लोग भिन्न-भिन्न मार्ग द्वारा प्रयत्न करते हुये अन्त में मेरी ही ओर आते हैं।'[2]

इस प्रकार, स्वामीजी ने सिद्ध किया कि धर्म में सम्प्रदायिकता, संकीर्णता, धर्मान्धिता इत्यादि के लिये कोई स्थान नही है। अमेरिकावासी उनके विचारों से इतने प्रभावित हुये कि उन्हें हार्वर्ड विश्वविद्यालय में 'प्राच्य-दर्शन' के आचार्य पद का कार्यभार तथा कोलम्बिया विश्वविद्यालय में 'संस्कृत के आचार्यपद' का

---

[1] रूचिनाम् वैचित्र्यादृजुकुटिलनानाःपथजुसाम्
नृणामेकोगम्यसत्वमसि पयसाः मर्णवैव।। (शिवमहिम्नस्त्रोत)

[2] एयथामामप्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यमहम् ।
ममवर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वसः।। (गीता)

कार्यभार देने का प्रस्ताव किया गया। किन्तु, स्वामी जी ने बड़े विनम्र भाव से इन पदों को यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि 'वे सन्यासी हैं।'

धर्म-परिषद का कार्य समाप्त कर स्वामी जी 7 अगस्त 1895 को इंगलैण्ड आये। लंदन में नियमित रूप से वेदान्त पर उनकी कक्षायें चलतीं। ज्ञानयोग पर उन्होंने वहाँ जो भाषण दिया उसका लंदन की जनता पर गहन प्रभाव पड़ा। इंगलैण्ड की एक धर्म-सभा में उनकी भेंट **'मिस मार्ग्रेट नोबेल'** से हुयी जो आगे चलकर भारत में **'भगिनी निवेदिता'** के नाम से प्रसिद्ध हुईं। स्वामी जी ने अपने भारतीय शिष्यों को धार्मिक शिक्षा देने के लिये पश्चिम में भेजा और अपने पश्चिम के शिष्यों को विज्ञान और प्रगति की शिक्षा देने के लिए भारत में भेजा। इंगलैण्ड से लौटकर स्वामी जी स्विट्जरलैण्ड आये तथा वहाँ कुछ दिन विश्राम किया।

पश्चिमी देशों पर भारत की आध्यात्मिक विजय के बाद स्वामी जी भारत लौटे। भारत में उनका अभूतपूर्व स्वागत किया गया। हिन्दू-धर्म और भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण और उन्नयन में उनके विशेष योगदान की सर्वत्र चर्चा होने लगी। स्वदेश लौटने पर उन्होंने अपना सारा समय **'अद्वैत संघ'**, जिसको उन्होंने श्रीरामकृष्ण की मृत्यु के बाद स्थापित किया था, के कार्य कलापो में लगा दिया। वेदान्त की शिक्षाओं को व्यवहारिक रूप देना ही संघ का प्रमुख उद्देश्य था। आज भी देश के विभिन्न भागों में अद्वैत-संघ की शाखायें सांस्कृतिक उन्नयन और राष्ट्रीय पुनर्जागरण के कार्य में लगी हैं। स्वामी विवेकानन्द की देश को यह सबसे बड़ी देन है।

सन् 1898 ई0 के **जनवरी माह** में कलकत्ता से सटे हुये भागीरथी के पश्चिमी तट पर स्थित **वेलूर गांव** में आंग्ल-शिष्या **'कुमारी हेनरी एटमूलर'** के सहयोग से लगभग सात एकड़ भूमि पर स्वामी जी ने एक मठ का निर्माण कराया जिसे **'रामकृष्ण मठ'** नाम दिया गया। सब धर्मों और सब तीर्थो के

समावेश से 'वेलूर-मठ' सभी पंथियों के लिये एक परम पवित्र तीर्थ-क्षेत्र बन गया, जहाँ सभी धर्मों का सांस्कृतिक-अनुष्ठान व सभी अवतारी महापुरुषो या धर्माचार्यों का श्रद्धापूर्वक पूजन किया जाता था।[1]

रामकृष्ण मठ के इस उदार आदर्श से खिंचकर देश-देशान्तर से आये हुये अगणित नर-नारी दिन-पर दिन धर्म-भाव से अनुप्राणित होते जाते थे। संघ के सदस्य भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की भित्ति को खोद उसके अनमोल रत्नों को बटोरते हुये वेद-वेदान्त आदि संस्कृत शास्त्रो का अवलम्बन कर साथ ही उन्हें समयोपयोगी बनाकर देश-देशान्तर में वितरित कर रहे थे। इनका मूल उद्देश्य था कि 'यदि भारत के इस नव-जागरण काल में भारतवासी अपने संस्कृति के मूल-स्त्रोतों के साथ घनिष्ठ रूप से परिचित हो जायें तो साम-गान से मुखरित प्राचीन भारत का सर्वजनीन आध्यात्मिक आदर्श प्रत्येक कुटीर में पुनः नई स्वर लहरियाँ उठायेगा। वह नूतन को पुरातन के पवित्र स्पर्श से सार्थक बनाकर भारत को पुनः प्रतिष्ठित करेगा।[2]

विवेकानन्द की प्रेरणा से आज भारत तथा विदेशों में रामकृष्ण मिशन की विभिन्न शाखायें कार्य कर रही हैं तथा उनमें अभी भी सच्ची-सेवा की भावना है। रामकृष्ण मिशन द्वारा जनता की सेवा की जाती है और रामकृष्ण के विचारो को फैलाया जाता है।

स्वामी विवेकानन्द सारी मानवता को एक कुटुम्ब मानकर चलते थे, जिसमें न कोई ऊँच है न नीच, बल्कि सभी समान हैं। इसी कारण, उन्होंने सनातन हिन्दू-धर्म का प्रचार किया। 1902 ई0 में जनवरी महीने में स्वामी विवेकानन्द ने जापान के लिये प्रस्थान किया। स्वदेश वापसी पर उन्होंने बनारस इत्यादि स्थानों का भी भ्रमण किया। किन्तु, अब स्वामी जी का स्वास्थ्य काफी

---

[1] रामकृष्ण संघ-आदर्श एवं नैतिकता, स्वामी तेजसानन्द, पृ 42

[2] रामकृष्ण-संघ आदर्श और नैतिकता, स्वामी तेजसानन्द, पृ. 43

खराबै रहने लगा था। उनका मन अनमनस्क रहता था। 39 वर्ष की अवस्था में 4 जुलाई 1902 ई0 को स्वामी विवेकानन्द जी अपने जीवन का लक्ष्य पूरा कर पूर्णतः समाधिस्थ हो गये। उनका महाप्रयाण हो गया।[1]

इस प्रकार आचार्य शंकर की भाँति अल्प जीवन-काल में ही सम्पूर्णता प्राप्त कर स्वामी विवेकानन्द जी ने मानव-समाज के समक्ष एक नया मार्ग स्थापित किया। महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी, पाइथागोरस, सत आगस्टाईन ने अपने अपने समय की माग के अनुसार समाज का मार्ग प्रशस्त किया था, समाज को एक नई दिशा दी थी। प्रत्येक युग में समाज करवट लेता है। इसी कारण आज भी भारतीय समाज के उत्थान के लिए एक नये मार्ग की आवश्यकता है। वर्तमान युग वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सामाजिक समस्याओं का समाधान करने का युग है। किन्तु धर्म और नैतिकता का महत्त्व समाप्त नही हो जाता।[2]

स्वामी विवेकानन्द के एक ही व्यक्तित्व में गीता की 'समन्वयात्मकता' आचार्य शंकर की 'तर्कपटुता', भक्त की 'भाव-प्रवणता' और समर्पित देश-भक्त की 'राष्ट्रीयता' विद्यमान थी। उनका समस्त चिन्तन समन्वयात्मक शैली से अनुप्राणित है। शिकागो धर्म-संसद में जहाँ सब अपने अपने ईश्वर की चर्चा कर रहे थे वहाँ स्वामी विवेकानन्द ने एक 'सार्वभौम धर्म की चर्चा' कर शीघ्र ही ख्याति प्राप्त कर ली थी। उन्होंने न केवल द्वैत विशिष्टाद्वैत एवं अद्वैत आदि वेदान्तिक सम्प्रदायों, अपितु विश्व के समस्त धर्मो और सम्प्रदायो में भी सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसी प्रवृत्ति के कारण वे, जैसा कि **भगिनी निवेदिता** ने कहा है— कि "**स्वामी विवेकानन्द प्राच्य-पाश्चात्य, प्राचीन-अर्वाचीन एवं दर्शनशास्त्र एवं विज्ञान** के मिलन बिन्दु बन गए।' सम्प्रदाय

---

[1] विवेकानन्द रोमाँ रोला, पृ. 92

[2] रिलीजियस एण्ड मोरल फिलॉसफी ऑफ विवेकानन्द : शैल कुमारी सिह, पृ 24

एवं धर्मों के अनेकरूपता में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करते हुये भी साम्प्रदायिकता एवं सर्कीणता के वे प्रबल विरोधी थे। उन्होंने वेदान्त को संकीर्णता और साम्प्रदायिकता से हटाकर विश्वव्यापक रूप देने का प्रयत्न किया। वेदान्त के आदर्शो को व्यवहारिकता के धरातल पर अवतरित कर देने वाले वे इस युग के प्रथम देवदूत थे। भगिनी निवेदिता ने कहा है कि— 'यदि स्वामी जी नहीं हुये होते तो आज सहस्र लोगों को जीवनदायी संदेश प्रदान करने वाले वेदान्त के सिद्धान्त पण्डितों के विवाद के विषय मात्र बने रह जाते।' वेदान्त को तत्त्व-मीमांसीय सिद्धान्तों का पुंज मानने वाली परम्परा के वे विरूद्ध थे। उन्होंने अद्वैत वेदान्त को बुद्धिगम्य और विज्ञानसम्मत रूप में ही प्रस्तुत किया। वे आजीवन विद्युत के समान संचरित होने वाले चेतनायुक्त शब्दों से भारतीयों में आत्म-तेज और आत्म-गौरव को जगाने का प्रयत्न करते रहे। पं0 नेहरू ने उनके बारे में कहा था कि— "वे अवसादग्रस्त तथा हतोत्साह हिन्दू मन के लिये संजीवनी-शक्ति के रूप में आये थे। गरीबी और भुखमरी जैसी मानवीय समस्याओं के प्रति उनका हृदय इतना अधिक संवेदनशील था कि इन समस्याओ को दूर करने के आगे वे धर्म और आध्यात्म की भी बातें भूल जाते थे। उन्होंने मानवीय समस्याओं को हल करने में जुट जाने को ही आज का सबसे बड़ा धर्म बताया। उनके विचार राष्ट्रीयता से इतने ओत-प्रोत थे कि उन्होंने कहा— 'जब तक भारत का कुत्ता भी भूखा है तब तक उसके लिए रोटी जुटाना ही तुम्हारा सबसे बड़ा धर्म है।' अमेरिका से लौटकर भारतीयों को जगाते हुये उन्होंने सिंहगर्जना की थी कि— "तुम्हारे तैंतीस करोड़ देवता सोये हुये हैं। जगा हुआ देवता केवल एक है और वह है 'भारत माता' जो तुम्हारे सामने खड़ी है। उठो! सोये हुए देवताओं को छोड़कर तुम इस जागृत देवता की सेवा में लग जाओ। यही धर्म है। यही परमात्मा का आराधन है।"

(4) श्री रामकृष्ण देव एवं विवेकानन्द की वैचारिक समन्वयता एवं अद्वैत वेदान्तिक अनुप्रयोग -

वस्तुतः स्वामी जी का व्यक्तित्व और जीवन-दर्शन श्री रामकृष्ण देव द्वारा साक्षात अनुभूत् सत्य की व्याख्या मात्र थी, ऐसा स्वामी जी स्वयं अनुभव करते थे। स्वामी विवेकानन्द और उनके गुरू श्री रामकृष्ण ने जिस वैचारिक पृष्ठभूमि और मूल्य-पद्धति की स्थापना की थी उसकी विशिष्टता मे अद्वैत वेदान्तिक विचारधारा की कितनी सार्थकता है? यह विचारणीय एवं महत्त्वपूर्ण बिन्दु है।

श्री रामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानंद दोनों ही तत्वज्ञ महापुरुष थे किन्तु, इनका दार्शनिक चिन्तन संकुचित एवं सीमाबद्ध नही था। दोनो की जीवनपर्यन्त दार्शनिक सत्यों की तार्किक व्याख्या के प्रति उतनी रूचि नही रही जितनी कि दर्शन को जीवन मे अनुभूति के स्तर पर रूपायित करने के प्रति। किन्तु इसका यह अर्थ यह नहीं है कि उनकी कोई शास्त्रीय पृष्ठभूमि नही थी? अथवा वे शास्त्रीय परम्परा से कटे हुए थे? जहाँ एक ओर, रामकृष्ण असाधारण आध्यात्मिक-प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे वहीं स्वामी विवेकानन्द समस्त भारतीय दार्शनिक-परम्परा के मर्मज्ञ और विद्वान थे। श्री रामकृष्ण देव ने अपने जीवन की कठोर साधना के द्वारा न केवल विभिन्न धर्मों में प्राप्त एकत्व का साक्षात्कार किया था, अपितु उन्हें सम्प्रज्ञात से असम्प्रज्ञात समाधि तक की सिद्धि प्राप्त थी। वे निरन्तर भाव-समाधि में रहते थे और चेतना के स्थूल स्तर पर कम ही उतर पाते थे। स्वामी विवेकानन्द भी उनकी कृपा से निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर परमात्मा के निराकार स्वरूप का अनुभव कर चुके थे। वे उपनिषदों तथा अन्यान्य दार्शनिक सम्प्रदायों के ज्ञाता और नैष्ठिक सन्यासी थे।

स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त को जीवन में उतारने की प्रक्रिया का उपदेश दिया और **वेदान्त को विश्व का 'भविष्यकालिक धर्म' कहा**। यद्यपि उन्होंने ज्ञान-योग, भक्ति-योग आदि पर साधिकार व्याख्यान दिये किन्तु उनकी आस्था

सदैव वेदान्त के प्रति ही रही। उनका समस्त जीवन-दर्शन अद्वैत से ही अनुप्रेरित था। मनुष्य की दिव्यता, आत्मा का एकत्व, प्रेम और सेवा के आदर्श मनुष्य मे निहित अनन्त संभावनाएँ और अपरिमित बल आदि उनके सभी प्रिय सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त से निःसृत होते हैं।

रामकृष्ण विवेकानन्द के द्वारा दिये गये आध्यात्मिक-सत्य से दर्शन के अनेक शास्त्रीय प्रश्नों का भी समाधान प्राप्त होता है। वे समाधान वैचारिक समाधान न होकर अनुभूति के सत्य हैं। उनके सम्मुख एक समस्या जो ऐसी ही थी, वह थी— द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत के आपसी विवादों की, जिसका अद्भुत समाधान हमें रामकृष्ण विवेकानन्द के दर्शन में प्राप्त होता है। इसके अनुसार— द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत वस्तुतः उसी अनुभूति के तीन प्रकार हैं, जिनमें परस्पर विसंगति न होकर क्रमशः तीन उत्तरोत्तर सोपानवत संगति है। द्वैत से चलकर विशिष्टाद्वैत से होते हुये ही अद्वैत की भूमि तक पहुँचा जा सकता है। यही कारण है कि अद्वैतोन्मुख विकास यात्रा में द्वैत एवं विशिष्टाद्वैत की धारा से भी स्वामी विवेकानन्द अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व को सिंचित करते हैं।

श्री रामकृष्ण देव और विवेकानन्द दोनों ही भारतीय संस्कृति की गौरवमयी परम्परा के उन्नायक थे। विवेकानन्द ने भारत और विश्व की समस्याओ पर जो भी विचार प्रस्तुत किया वे श्री रामकृष्ण के ही दिये हुये थे। उन्होंने गुरूदेव के उपदेशों को व्यवहारिक स्वरूप में ढ़ालकर विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। यही विवेकानन्द का कर्मयोग है, जो गुरू के ज्ञान-योग पर आधारित था।[1] श्री रामकृष्ण देव असंख्य आध्यात्मिक विचारों के पुञ्ज थे और अपने को असंख्य रूपों में प्रस्तुत करने की सामर्थ्य रखते थे। उनकी कृपादृष्टि की एक झलक एक ही क्षण में विवेकानन्द जैसे सहस्र व्यक्तियों को परिवर्तित कर देने की शक्ति रखती थी।

---

[1] भारतीय धर्म और संस्कृति, डॉ0 राम जी उपाध्याय, पृ 124

स्वामी विवेकानन्द पहले तो ईश्वर के अस्तित्व के विषय में विज्ञान और तर्क-शास्त्र के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास करते थे कि 'ईश्वर का अस्तित्व एक कपोल कल्पित वस्तु है। किन्तु कुछ समय बाद अपने ही तर्को के माध्यम से यह सिद्ध करने लगे कि ईश्वर ही सत्य है।'[1] शिकागो धर्म-संसद में भी विवेकानन्द जी ने भारतीय-दर्शन की वेदान्तिक परम्परा के अंतर्गत 'परब्रह्म' की परिकल्पना, 'निर्गुण' और 'सगुण' की उपासना-पद्धति आदि पर अपना ओजस्वी भाषण प्रस्तुत किया था।[2]

रामकृष्ण देव का भी 'ब्रह्म के अद्वैत स्वरूप' में ही विश्वास था। यही कारण है कि, साधना के अंतिम सोपान पर उन्होंने तोतापुरी से अद्वैत धर्म की शिक्षा ली। वे कहते हैं कि— **'जो ब्रह्म है, वही शक्ति है।' जब वे निष्क्रिय रहते हैं तब उन्हें 'ब्रह्म' कहते हैं जब वे सृष्टि, स्थिति और संहार का कार्य करते हैं तब उन्हें 'शक्ति' कहते हैं**। इनके बीच का भेद केवल स्थिर जल और हिलते-डुलते जल के समान है।[3]

स्वामी परमहंस का विचार था कि विषय-बुद्धि का लेशमात्र अश रहने पर भी ब्रह्मज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। ब्रह्म तो निर्लिप्त है। सुगन्ध और दुर्गन्ध वायु से मिलती है, किन्तु वायु निर्लिप्त है। ब्रह्म और शक्ति अभेद्य है और उसी 'आद्या-शक्ति' से 'जीव-प्रपंच' बना है। ब्रह्म 'मन' और 'वचन' से परे है।[4]

स्वामी रामकृष्ण जी की **'सर्वधर्म समभाव'** की भावना भी उनके अद्वैत चिन्तन से ही प्रभावित थी। जब सिर्फ एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है तो भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायियों द्वारा अपने अपने धर्म को ही सत्य बताना वास्तविक नही

---

[1] विवेकानन्द : रोमाँ रोला, पृ. 71

[2] विवेकानन्द : रोमाँ रोला, पृ. 89

[3] श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम खण्ड, श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृ 414

[4] श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम खण्ड, श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृ. 602

है। सभी धर्मों का जो चरम लक्ष्य है वह जब एक ही है तो उनका आपसी द्वैत भी समीचीन प्रतीत नहीं होता। उनका विचार था कि **सत्य एक ही है**। अंतर है 'नाम' और 'रूप' का (**एकम् सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**) एक ही जलाशय के तीन या चार घाट हैं— एक पर हिन्दू पानी पीते हैं उसे 'जल' कहते हैं दूसरे पर मुसलमान उसी को 'पानी' कहते हैं और तीसरे पर उसी को कुछ लोग 'वाटर' कहते हैं। तीनों का तात्पर्य एक ही वस्तु से है, भेद केवल नाम का है। इसीप्रकार कुछ लोग सत्य को 'अल्लाह' के नाम से पुकारते हैं, कुछ 'गॉड' कहकर और कुछ लोग 'ब्रह्म' कहकर तो कुछ 'काली' कहकर कुछ लोग 'राम', 'ईसा', 'दुर्गा' तथा 'हरि' नाम लेकर पुकारते हैं।[1]

स्वामी विवेकानन्द को अपने गुरू रामकृष्ण परमहंस में प्राचीन धर्म-ग्रन्थो का वह सत्यापन प्राप्त हुआ जिसकी मांग उनकी हृदय और बुद्धि करती रही थी। यहां वह सत्य उपलब्ध था जिसका टूटा-फूटा वर्णन ही धर्म-ग्रंथ उपलब्ध करा पाते हैं। रामकृष्ण में विवेकानन्द को 'जीवन के रहस्य की कुंजी' मिल गयी। वस्तुतः विवेकानन्द की वाणी परमहंसदेव की ही अनुभूतियाँ थी। वह 'भावना' वस्तुतः एक ही थी जिससे पहले दक्षिणेश्वर की चिन्मयी मां काली और रामकृष्ण अभिन्न हुये थे और वही परमहंस की महासमाधि के पूर्व नरेन्द्र में संचारित हो गयी थी। उनके गुरूदेव का जीवन एवं व्यक्तित्व जिस विगट परिपूर्णता का अल्पकालिक एवं प्रखर प्रतीक था उसकी परिव्याप्ति को आत्मसात् करने के लिए ही स्वामी विवेकानन्द ने अपना जीवन लगा दिया। इसी के संदर्भ में, उनकी शिक्षाओं का सामाजिक महत्व निहित है। किन्तु, इसके पीछे उनकी वह अद्वैत दृष्टि भी थी जिसके संदर्भ में उन्होंने एक बार कहा था कि 'कला, विज्ञान एवं धर्म एक ही सत्य की अभिव्यक्ति के त्रिविध माध्यम हैं लेकिन इसे समझने के लिए निश्चय ही हमें अद्वैत का सिद्धान्त चाहिए।'

---

[1] श्री रामकृष्ण देव की वाणी, (रामकृष्ण देव के उपदेशो का संग्रह), पृ 5

विवेकानन्द जी का मानना था कि अद्वैत-वेदान्त ही वेदान्त की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या है। अद्वैत वेदान्त का समर्थक होने के कारण ही स्वामी विवेकानन्द ब्रह्म की निर्गुण, निर्विशेष और निरपेक्ष सत्ता को स्वीकार करते हैं। शंकराचार्य ने जिन गुणों से निर्गुण ब्रह्म को अभिहित किया है वे हैं— 'निर्गुण ब्रह्म', 'सत', 'परमार्थ-सत्य', 'परमार्थ तत्त्व' इत्यादि। निर्गुण ब्रह्म निर्विशेष होने के कारण ही अवर्णनीय है।[1]

स्वामी विवेकानन्द ने भी ब्रह्म को 'सत्' माना है। उनके अनुसार भी ब्रह्म एक है, वह स्वयंभू है, उसका कोई कारण नही है, न उसमें 'दिक्' है न 'काल' है और न 'कार्य-कारण'। वह 'अनिर्वचनीय' और 'अवर्णनीय' है।[2] स्वामी जी का कहना है कि एक ही समय में एक से अधिक वस्तुओ का अस्तित्व नहीं रह सकता। स्वामी विवेकानन्द जी ने मनुष्य के यथार्थ स्वरूप का वर्णन इस प्रकार व्यक्त किया है— "मनुष्य अनन्त सर्वव्यापी ब्रह्म के प्रातिभासिक स्वरूप का एक सीमाबद्ध भाव मात्र है। मनुष्य की प्रकृति स्वरूप आत्मा कार्य-कारण से तथा देशकाल से सम्बन्धित होने पर भी मुक्त है। यह कभी बद्ध नहीं थी और न ही कभी बद्ध हो सकती है। किन्तु, जीव प्रातिभासिक प्रतिबिम्ब स्वरूप होने के कारण बद्ध है। हमारी आत्मा मे जो यथार्थ सत्य है वह यही है कि **आत्मा सर्वव्यापी है, अनन्त है व चैतन्य स्वभाव है।** प्रत्येक आत्मा अनन्त है। अतः जन्म और मरण का प्रश्न ही नही उठता।[3]

स्वामी विवेकानन्द की यह व्याख्या आचार्य शंकर द्वारा प्रस्तुत मनुष्य के यथार्थ स्वरूप की व्याख्या से काफी मिलती- जुलती है। शंकराचार्य का विचार है कि 'शुद्ध आत्म तत्त्व पर अविद्या के कारण अनात्मा का तथा देहेन्द्रियादि

---

[1] शांकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र, पृ. 3.216

[2] विवेकानन्द साहित्य, नवम खण्ड, पृ. 314

[3] विवेकाननद साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ. 10-11

कारणादि अनात्म धर्मों का अध्यास होते ही शुद्ध साक्षी चैतन्य जीव या प्रमाता के रूप में प्रतीत होती है। अविद्या के कारण जीव अपने आत्म-स्वरूप को भूलकर आत्म पदार्थों और अनात्म धर्मों को अपने ऊपर आरोपित करता है।[1]

स्वामी जी ने शंकराचार्य की ही भाँति माना है कि यह जगत् सत्य की कोटि में नहीं है। सत्य की परिभाषा करते हुये वे कहते हैं कि— **'जो देश काल और कार्य-कारण से अविच्छिन्न हो वही सत्य है। सत्य कभी भी विषयीभूत नहीं हो सकता। जो भी इन्द्रियादि से गृहित हो रहा है वह सत्य नहीं है। जगत् देश-काल आदि का एक समूह मात्र ही है।'**[2] आचार्य शंकर का भी जगत् के संदर्भ में ऐसा ही विचार है। वे जगत् को सत्य नही मानते, एकमात्र ब्रह्म को ही सत्य मानते हैं।

जैसे शंकराचार्य जगत् को माया या भ्रम समझते हैं और कहते हैं कि माया या अविद्या के कारण ब्रह्म जीव और जगत् के रूप में प्रतीत होता है, वैसे ही विवेकानन्द जी भी मानते हैं कि 'माया हमें चारों ओर से घेरे हुये है और वह अति भयंकर है फिर भी हमें माया से होकर ही कार्य करना पड़ता है।'[3]

स्वामी विवेकानन्द जी भी स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म रूप होने के कारण माया जीव को बांध नहीं सकती। जीव समीम न होकर असीम है। माया के कारण वह अपने आप को सीमाबद्ध समझ लेता है पर वही वास्तव मे मुक्त स्वरूप है वही ब्रह्म है।[4]

---

[1] सी डी शर्मा : भारतीय दर्शन की आलोचना और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, पृ 238

[2] विवेकानन्द साहित्य, तृतीय खण्ड, पृ 113

[3] चिन्तनीय बाते : स्वामी विवेकानन्द, पृ 20

[4] विवेकानन्द साहित्य; द्वितीय खण्ड, पृ 63

इसी प्रकार, स्वामी विवेकानन्द जी द्वारा प्रस्तुत मुक्तिविषयक परिकल्पना, ईश्वर-सम्बन्धी परिकल्पना भी शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त से अत्यधिक प्रभावित रही है। शंकराचार्य द्वारा प्रस्तुत अद्वैत दर्शन के सिद्धान्त के आधार पर ही स्वामी विवेकानन्द ने आध्यात्मिक क्षेत्र में सार्वभौमिक विचार प्रस्तुत कर विश्व-ब्रह्माण्ड में **'बहुत्व में एकत्व की स्थापना'** का प्रयास किया है।

जैसा कि श्री रामकृष्ण देव ने उद्घोषित किया था कि द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत एक ही सत्य की प्राप्ति के तीन सोपान हैं, स्वामी विवेकानन्द भी वैसा ही समन्वय स्थापित करने का प्रयास करते हैं। विवेकानन्द जी इसे और भी महान तथा अधिक सरल सिद्धान्त कि— 'अनेक और एक विभिन्न समयों पर, विभिन्न वृत्तियों में मन के द्वारा देखा जाने वाला एक ही तत्त्व है— के रूप मे देखते हैं।' श्री रामकृष्ण ने इसी सत्य को इस प्रकार व्यक्त किया था कि 'ईश्वर साकार और निराकार दोनों ही है।' ईश्वर वह भी है जिसमें साकार और निराकार दोनों समाविष्ट भी हैं। यहीं पर रामकृष्ण और विवेकानन्द पूर्व और पश्चिम के ही नहीं वरन् 'भूत' और 'भविष्य' के भी संगम-बिन्दु बन जाते हैं।

श्री रामकृष्ण देव ने जिस परम एक और अद्वितीय सत्य का अनुभव किया उसे ही विवेकानन्द ने व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के सदर्भ में व्याख्यायित किया। स्वामी विवेकानन्द अद्वैत वेदान्त की शास्त्रीय परम्परा से न तो अपरिचित रहे न ही उसकी उपेक्षा की, तथापि उन्होंने शास्त्रीय टीका-टिप्पणी और 'स्वमत-स्थापन' या 'परपक्ष-खण्डन' की शास्त्रार्थ शैली को तत्कालीन समाज के लिए अधिक उपयोगी न समझकर अद्वैत वेदान्त की मूल भावना को दैनन्दिन जीवन में उतारने का सार्थक प्रयास किया। इस दृष्टि से उन्होंने अद्वैत वेदान्त की समयानुकूल व्याख्या की और उसे पुस्तकों से निकालकर जीवन में प्रतिष्ठित किया। इसीलिए उनके वेदान्तिक चिन्तन को **'प्रैक्टिकल वेदान्त'** का नाम दिया जाता है। स्वामी विवेकानन्द के वक्तृत्व और कृतित्व से वेदान्त की यह धारा अविच्छिन्न रूप से बहती रही। उनकी सम्पूर्ण वैचारिक-पृष्ठभूमि में अद्वैत

वेदान्त की सार्थकता सदैव बनी रही, भले ही उसका शास्त्रीय रूप प्रायः चर्चा का विषय न बना हो। किसी भी दार्शनिक-विचारधारा की सार्थकता सिर्फ विद्वत-मण्डली और पुस्तकों तक सीमित रह जाने में ही नही है बल्कि उसकी सार्थकता इसी मत में सन्निहित होती है कि वह जीवन का स्पन्दन बन सके।

श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द की वैचारिक-पृष्ठभूमि में अद्वैत-वेदान्त की मौलिकता कभी-कभी शंकराचार्य प्रणीत 'केवलाद्वैत' की सीमाओं का अतिक्रमण करती हुई भी दिखती है। उनकी वैचारिक पृष्ठभूमि विशिष्टाद्वैत जैसी अद्वैत की अन्य भंगिमाओं को भी कभी-कभी स्पर्श करने लगती है। यहाँ पर श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द की विचारधारा का अद्वैत काफी लचीला दिखता है। शोध-प्रबन्ध के अगले अध्यायों में जहाँ श्रीरामकृष्ण और विवेकानन्द की वैचारिक-पृष्ठभूमि के मूल-तत्त्व और उसमें अद्वैत-वेदान्त की 'सार्थकता' तथा 'उपयोगिता' की व्याख्या की गयी है वहीं इस बात की भी विवेचना की गयी है कि उनकी अद्वैत-वेदान्तिक दृष्टि शास्त्रीयता के परिप्रेक्ष्य में कहां तक उचित ठहरती है?
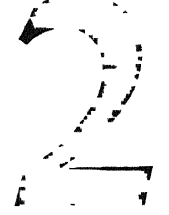
अद्वैत वेदान्तिक धर्म की अवधारणा -

1 सार्वभौम मानवतावादी धर्म
2. श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द द्वारा अद्वैत वेदान्तिक धर्म के व्यावहारिक अनुप्रयोग
3. श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द द्वारा अद्वैत वेदान्तिक धर्म के तार्किक अनुप्रयोग
4. श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द का अनुभूति मूलक अद्वैत वेदान्तिक धर्म

अद्वैत वेदान्तिक धर्म की अवधारणा

जब निरीश्वरवादियों और अज्ञेयवादियों ने सारे देश को ध्वस करने की चेष्टा की तो इससे भारत का परित्राण करने में अद्वैत एकमात्र उपाय सिद्ध हुआ। बुद्धदेव के समय एवं उनके पूर्व नास्तिकता प्रबल हो गयी थी तब प्रकारान्तर से एक सार्वभौम धर्म की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। महर्षि कणाद ने कहा कि 'जिससे श्रेय की प्राप्ति हो वह धर्म है। 'नैयायिकों ने ईश्वरस्वरूप की गहन विवेचना किया एवं ईश्वर-सिद्धि हेतु पर्याप्त प्रमाणों की विवेचना किया। पतंजलि ने भी ईश्वर को पुरुष-विशिष्ट सिद्ध किया। शंकराचार्य ने एक सत्ता मे विश्वास कर औपनिषदिक दर्शन का सार तत्व प्रस्तुत कर दिया 'सम्पूर्ण लोक का धर्म एक है कि परम-सत्ता की खोज किया जाय और उस परम-सत्ता को शंकराचार्य ने 'ब्रह्म' शब्द से अभिहित किया था। अद्वैत वेदान्त समस्त जगत् को एक ही तत्त्व से प्रसूत मानता है और उसी को परम-सत्ता, परमधर्म एव परम चेतना मानता है। जगत् की आत्मा एक है, उसे 'लोकात्मवाद' कहा जा सकता है। इसी परम्परा को आगे बढाते हुए श्री रामकृष्ण देव एवं विवेकानन्द ने एक सार्वभौम धर्म की कल्पना किया था जो व्यावहारिक वेदान्तिक धर्म है जिसका सारतत्त्व मानव-प्रेम है।

(1) सार्वभौम मानवतावादी धर्म –

विवेकानन्द जी के अनुसार सार्वभौम धर्म की अभिव्यक्ति तो अब शुरू हुई है। लोग कहते हैं- धर्म मर रहा है, आध्यात्मिकता का ह्रास हो रहा है, पर मुझे तो लगता है कि अभी-अभी ये पनपने लगे हैं। एक

सुसंस्कृत एवं उदार धर्म की शक्ति अभी ही तो सम्पूर्ण मानवजीवन में प्रवेश करने जा रही है। जब तक धर्म कुछ इने-गिने पण्डे-पादरियो के हाथों में रहा, तब तक इसका दायरा मन्दिर, गिरजाघर, धर्मग्रन्थों, धार्मिक नियमों, अनुष्ठानों और बाह्याचारो तक सीमित रहा। पर जब हम यथार्थ आध्यात्मिक और विश्वव्यापक धरातल पर आ उपनीत होंगे तब और तभी धर्म यथार्थ हो उठेगा, सजीव हो उठेगा, हमारे जीवन का अंग बन जाएगा. हमारी हर गति में रहेगा, समाज के रोम-रोम में समा जाएगा, और तब इसकी शिवात्मक शक्ति पहले कभी भी की अपेक्षा अनन्त गुनी अधिक हो जाएगी।

आज आवश्यकता इस बात की है कि सभी तरह के धर्म परस्पर बन्धुत्व का भाव रखें, क्योकि अगर उन्हें जीना है तो साथ-साथ और मरना है तो साथ-साथ। बन्धुत्व की यह भावना पारस्परिक स्नेह और आदर पर आधारित होनी चाहिए न कि संरक्षणशील, प्रसादस्वरूप किंचित् शुभेच्छा की कृपण अभिव्यक्ति पर, जिसे आज एक धर्म अनुग्रहपूर्ण भाव से दूसरे पर दर्शाते हुए पाया जाता है। एक ओर हैं मानसिक व्यापारों की अध्ययनजन्य धार्मिक अभिव्यक्तियाँ, जो अभाग्यवश आज भी धर्म पर एकाधिकार का पूरा दावा रखती हैं और दूसरी ओर हैं धर्म की वे अभिव्यक्तियाँ, जिनके मस्तिष्क तो स्वर्ग के रहस्यों में अधिक व्यस्त है, किन्तु जिनके चरण पृथ्वी से ही चिपके हैं- मेरा तात्पर्य है तथाकथित भौतिक विज्ञानों से। अब इन दोनों के मध्य इस बन्धुत्व की भावना की सर्वोपरि आवश्यकता है।

इस सामंजस्य को लाने के लिए दोनों को ही आदान-प्रदान करना होगा, त्याग करना होगा, यही नहीं, कुछ दुःखद बातों को भी सहन करना होगा। पर इस त्याग के परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति और भी निखर

उठेगा और सत्य के सन्धान में अपने को और भी आगे पाएगा। अन्त में देश–काल की सीमाओ में बुद्ध ज्ञान का महामिलन उस ज्ञान से होगा, जो इन दोनों से परे है, जो मन तथा इन्द्रियों की पहुँच से परे है– जो निरपेक्ष है, असीम है, अद्वितीय है।

स्वामी विवेकानन्द के दृष्टि में हमारा यह संसार–इन्द्रियों, बुद्धि और युक्ति का संसार–दोनों ही ओर अनन्त, अज्ञेय और अज्ञात से परिसीमित है। यह अनन्तता ही हमारी खोज है, इसी मे अनुसन्धान के विषय हैं, इसी में तथ्य है और इसी से प्राप्त होने वाले प्रकाश को संसार 'धर्म' कहता है। कुछ भी हो धर्म मूलतः इन्द्रियातीत भूमि की वस्तु है, ऐन्द्रिय भूमि की नहीं। यह समस्त तर्क के परे है तथा यह बुद्धि के स्तर का विषय नहीं। यह एक अलौकिक दिव्य दर्शन है, एक अन्तः प्रेरणा है। यह मानो अज्ञात और अज्ञेय में डूबना है, जिससे ज्ञानातीत ज्ञान से अधिक ज्ञान हो जाता है, क्योंकि वह कभी "जाना" नहीं जा सकता। जैसा कि मेरा विश्वास है, यह खोज मानवता के आदि काल से ही जारी है। विश्व के इतिहास में ऐसा समय कभी नहीं हुआ, जब मनुष्य की बुद्धि इस संघर्ष, अनन्त की इस खोज में व्यस्त न रही हो। हमारे मन का जो नन्हा–सा संसार है, उसमें हम विचारों को उठते हुए पाते हैं। ये विचार कहॉ से आते हैं और कहॉ चले जाते हैं, हम नहीं कह सकते। वृहत् ब्रह्माण्ड और यह क्षुद्र जगत् मानो एक ही लोक में हैं, एक ही अवस्थाओं को पार करते हैं, एक ही स्वरग्राम में स्पन्दित होते हैं।

स्वामी विवेकानन्द यह मानते हैं कि **धर्म कहीं बाहर से नहीं आता बल्कि व्यक्ति के अभ्यन्तर से ही उदित होता** है। उनकी यह आस्था है कि धार्मिक विचार मनुष्य की रचना में ही सन्निहित हैं, और यह बात यहाँ तक सत्य है कि मनुष्य धर्म का त्याग तब तक नहीं कर

सकता, जब तक उसका शरीर है, मन है, मस्तिष्क है, जीवन है। जब तक मनुष्य में सोचने की शक्ति रहेगी, तब तक यह संग्राम चलता ही रहेगा और तब तक धर्म किसी न किसी रूप मे रहेगा ही। इस तरह विश्व में हमें धर्म के विभिन्न रूप मिलते हैं।

वर्तमान काल में सब से बड़ा प्रश्न है: अगर ज्ञात और ज्ञेय जगत् का आदि और अन्त अज्ञात तथा अनन्त अज्ञेय द्वारा सीमाबद्ध है, तो उस अज्ञात के लिए हम प्रयास ही क्यों करे? क्यों न हम ज्ञात जगत् मे ही सन्तुष्ट रहें? क्यो न हम खाने, पीने और ससार की किंचित् भलाई करने में ही सन्तुष्ट रहें? ये प्रश्न अक्सर सुनने को मिलते हैं और अद्वैत वेदान्तिक चिन्तन के विरुद्ध भी अक्सर यही प्रश्न उसके प्रतिपक्षी उठाते रहते हैं।

किन्तु सौभाग्यवश हम अनन्त के बारे में जिज्ञासा किये बिना नहीं रह सकते। यह जो वर्तमान है, व्यक्त है, वह तो अव्यक्त का एक अंश मात्र है। इन्द्रियों की चेतना के धरातल पर जो अनन्त आध्यात्मिक जगत् प्रक्षेपित है, यह इन्द्रिय जगत् उसका एक नन्हा–सा अंश है। ऐसी स्थिति में उस अनन्त विस्तार को समझे बिना यह नन्हा–सा प्रक्षेपित भाग कैसे समझा जा सकता है? और यह बात यहाँ की हर चीज में लागू है, चाहे वह समाज हो, हमारे पारस्परिक सम्बन्ध हों, हमारा धर्म हो अथवा नीतिशास्त्र हो कुछ लोगों ने मात्र उपयोगिता के नाम पर ही नीतिशास्त्र की स्थापना करने का प्रयास किया है। मैं उस व्यक्ति को चुनौती देता हूँ, जो इस आधार पर किसी युक्तिसंगत नीतिशास्त्र की स्थापना करने का दावा करता है। दूसरों की भलाई करो। पर क्यों? क्योंकि इससे अधिकतम उपयोगिता मिलेगी। मान लो, कोई व्यक्ति कहता है, "मैं उपयोगिता की परवाह नहीं करता, मैं धनी बनने के लिए दूसरों को कत्ल

भी कर सकता हूँ।" इस पर तुम क्या कहोगे? यह तो हेरोड की नृशंसता को भी पार कर जाना कहलाएगा। पर मेरे विश्व की भलाई करने की उपयोगिता ही क्या है? क्या मैं बेवकूफ हूँ, जो जीवन भर इसलिए खटता रहूँ कि दूसरे सुख से रहें? मैं स्वयं ही सुख से क्यो न रहूँ, अगर समाज के परे कोई शक्ति नहीं है, अगर इन्द्रियो की दुनिया के परे कुछ नहीं है? अगर मैं अपने को पुलिस के हाथों से बचा सकूँ, और सुखी रह सकूँ, तो फिर अपने भाइयो के गले काटने से भी मुझे कौन रोकने वाला है? इस बात का तुम क्या जवाब दोगे? तुम तो किसी न किसी तरह की उपयोगिता साबित करने के लिए बाध्य हो। इसलिए परास्त हो जाने पर भी तुम कहोगे, "मेरे बन्धु, भलाई करना ही अच्छा है।" मानव-मन की वह कौनसी शक्ति है, जो कहती है, "भलाई करना ही अच्छा है", जो आत्मा की महत्ता को इतने शानदार ढग से हमारे सम्मुख रखती है, जो शुभ की मनोज्ञता, उसके आकर्षण तथा उसकी अनन्त शक्ति को दर्शाती है? इसे ही हम ईश्वर कहते हैं। है न?[1]

विश्व का उपकार करने का हमारा जो प्रयास है वह कुछ इसी ढंग का है। स्वामी जी मानते हैं कि शताब्दियों से हम बस कुत्ते की दुम ही सीधी करते रहे हैं। यह तो जैसे गठिये की बीमारी है, पैर से दर्द हटाओ तो सिर में चला जाता है और फिर सिर से हटाओ तो किसी दूसरे अग में चला जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह तो घोर निराशावादी दृष्टिकोण है, पर बात वैसी नहीं है। निराशावाद और आशावाद, दोनों ही गलत हैं। दोनों ही अतिवादी दृष्टिकोण हैं। जब तक व्यक्ति को खाने-पीने की प्रचुरता रहती है, पहनने के लिए भरपूर कपडे मिलते रहते हैं, तब तक वह आशावादी

[1] स्वामी विवेकानन्द, धर्मतत्त्व, पृ0 22.

रहता है। किन्तु वही आदमी जब सब कुछ खो देता है, तो घोर निराशावादी बन बैठता है। आदमी जब अपनी सारी सम्पत्ति गँवाकर नितान्त दरिद्र बन जाता है, तभी उसे विश्वबन्धुत्व की भावना सुझती है। यही दुनिया है और जितना ही अधिक देश भ्रमण मैं करता हूँ और ससार को देखता हूँ तथा मेरी आयु जितनी ही बढती जाती है, उतना ही अधिक मैं इन दोनो अतिवादी दृष्टिकोणों– आशावाद तथा निराशावाद– से परे रहने का प्रयास करता हूँ। यह संसार न तो अच्छा है, न बुरा। यह तो प्रभु का संसार है। अच्छाई और बुराई से परे यह अपने आप मे पूर्ण है। एक परमात्मा की इच्छा अनादि काल से विभिन्न रूपो से अपने आप को अभिव्यक्त कर रही है और अनन्त काल तक यह वैसा ही करती चली जाएगी। वास्तव में धर्म सत्य की खोज करता है। और पहली चीज, जिसका इसने अनुसन्धान किया है, वह यह है कि **जब तक परम सत्य का ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक जीवन व्यर्थ है।**

आखिर मानवता का लक्ष्य क्या है– आनन्द या इन्द्रिय–सुख। प्राचीनकाल में लोग कहा करते थे कि स्वर्ग में लोग तुरही बजाते हैं तथा एक सिंहासन के चारों ओर रहते हैं। आधुनिक युग मे स्वर्ग का यह आदर्श लोगों को नहीं जँचता है। इसलिए इसके स्थान में वे कहते हैं कि स्वर्ग में लोग विवाहादि सुखों के साथ रहते हैं। अगर दूसरे आदर्श मे पहले की अपेक्षा कुछ सुधार दिखता है तो यह सुधार और भी असंगत है। स्वर्ग के सम्बन्ध में जो विभिन्न कल्पनाएँ सुनने को मिलती हैं, वे सभी हमारे मन की कमजोरियों का प्रतीक है और वे कमजोरियाँ इन वजहों से हैं कि पहले तो लोग इन्द्रिय–सुख को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं। दूसरे, पाँच इन्द्रियों से परे किसी चीज की लोग कल्पना तक नहीं कर सकते। ये लोग उतने ही अविवेकी है, जितने अविवेकी उपयोगितावादी हैं। पर इतना होने पर भी ये लोग उन नास्तिक उपयोगितावादियों से तो

अच्छे ही हैं। उपयोगितावादिता तो निरी नादानी है। तुम को यह कहने का क्या अधिकार है– ''यही मेरा मापदण्ड है और सारे विश्व को इसी मापदण्ड से नापा जाना चाहिए?'' तुमको क्या अधिकार है, सारे विश्व को अपने मूल्यों से मापने का? और वह भी तब जब तुम रोटी, रूपया और वस्त्रा को ही ईश्वर मान रहे हो। ग्रीक युग में प्रोटागोरस ने 'Home Mensura' का सिद्धान्त दिया था। अर्थात् मनुष्य समस्त वस्तुओं का मापदण्ड है। विवेकानन्द की मान्यता भी कुछ इसी प्रकार की थी।

स्वामी विवेकानन्द जी स्पष्ट कहते हैं कि ''धर्म रोटी मे नहीं है, मकान में नहीं है। बार–बार लोग प्रश्न करते हैं, ''धर्म से आखिर कौन– सी भलाई होगी?' क्या यह गरीबों की दरिद्रता दूर कर सकेगा और उनके लिए वस्त्रों का प्रबन्ध कर सकेगा?'' मान लीजिए कि धर्म यह सब नहीं कर सकता। तो क्या इससे धर्म की असत्यता सिद्ध हो जाएगी? मान लीजिए आप ज्योतिष के किसी सिद्धान्त की चर्चा कर रहे हैं और कोई बच्चा आकर कहने लगे, ''क्या यह मीठी रोटी ला देगा? आप कहेंगे – नहीं, यह नहीं लाने वाला है, इस पर बच्चा कहेगा तब तो यह बेकार है।'' विश्व को देखने का बच्चों का अपना दृष्टिकोण है– वही रोटी ला देने वाला। और ठीक ऐसी ही बातें संसार के ये नादान बच्चे भी करते हैं। यह दुःख की बात है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे इस तरह की बातें विद्वता, विवेक और बौद्धिकता की निशानी मानी जाती है।[1]

हमें उच्च स्तर की वस्तुओं को अपने निम्नस्तरीय मापदण्ड से नहीं मापना चाहिए हर चीज को उसके अपने पैमाने से नापना उचित है तथा अनन्त को अनन्त के पैमाने से। धर्म सम्पूर्ण मानव–जीवन में परिव्याप्त है, न केवल वर्तमान में, अपितु भूत और भविष्य में भी। अतः इस

[1] स्वामी विवेकानन्द, धर्मतत्त्व, पृ0 26

शाश्वत आत्मा का शाश्वत ब्रह्म के साथ शाश्वत सम्बन्ध है। मानव-जीवन के पॉच मिनटों पर इसके प्रभाव को देखकर इसका मूल्याकन करना न्यायसंगत है? कभी नहीं। पर ये सभी तर्क तो नकारात्मक हैं।

(2) श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द द्वारा अद्वैत वेदान्तिक धर्म के व्यावहारिक अनुप्रयोग –

अब प्रश्न आता है कि क्या धर्म सचमुच कुछ कर सकता है? कर सकता है। क्या धर्म रोटी और कपडे का प्रबन्ध कर सकता है? कर सकता है। यह हमेशा से ही ऐसा करता आ रहा है। और इतना ही क्यो, यह इससे असंख्य गुना अधिक काम करता आ रहा है- वह मनुष्य को शाश्वत जीवन प्रदान करता है। आज मनुष्य जिस स्थिति मे है, वह धर्म की ही बदौलत है। और धर्म ही इस मानव पशु को ईश्वर बना देगा- यह है धर्म की क्षमता। आज मानव समाज से धर्म को निकाल दो, फिर शेष क्या बचेगा? पशुओं से भरे जंगल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। जैसा कि मैं अभी कह चुका हूँ, **इन्द्रिय-सुख को मानव समाज का चरम लक्ष्य मानना महज मूर्खता है, मानव-जीवन का लक्ष्य 'ज्ञान'** है। मैंने तुम्हें यह दिखलाने का प्रयास किया है कि यद्यपि हजारो वर्षो से सत्य की हमारी खोज और मानवता के कल्याण के लिए हमारे प्रयत्नों के बावजूद हम मुश्किल से कोई प्रगति कर पाये हैं, किन्तु मनुष्य ने ज्ञान के क्षेत्रा में अद्भूत सफलता पायी है। इस सम्पूर्ण ज्ञानराशि का उपयोग मानव की सुख-सुविधा के लिए नहीं, अपितु मानव को पशुत्व की श्रेणी से उठाकर देवत्व की श्रेणी में लाने के लिए होना चाहिए। वैसा होने पर स्वभावतः ही ज्ञान से आनन्द की प्राप्ति होगी। बच्चे सोचते हैं कि इन्द्रिय-सुख ही सर्वस्व है। पर तुम जानते हो कि इन्द्रिय-सुख से बौद्धिक

सुख सूक्ष्मतर होता है। जितना आनन्द कुत्ते को खाने मे आता है, उतना किसी आदमी को नहीं आ सकता। तुम इस बात की परीक्षा कर सकते हो। तब आदमी को आनन्द आता किसमें है? मै उस आनन्द की बात नहीं करता, जो किसी कुत्ते अथवा सूअर को भोजन करते वक्त मिलता है। सोचो तो, भला सूअर किस तन्मयता से खाता है? वह इतना विभोर होकर खाता है कि उस समय सम्पूर्ण विश्व को भूल जाता है। उसकी सारी सत्ता उसके भोजन द्वारा अभिभूत हो गयी है। जब उसके पास भोजन है, उसे परवाह नहीं अगर वह मार भी डाला जाये उसके सुख की तीव्रता का ख्याल करो। किसी मनुष्य को ऐसा अनुभव नहीं होता। मनुष्य का भोजनजनित वह आनन्द तब कहाँ चला गया? मनुष्य ने उसे बौद्धिक आनन्द मे परिवर्तित कर लिया है। सूअर धार्मिक उपदेशों में आनन्द नहीं ले सकता। इस बौद्धिक आनन्द से भी एक कदम ऊँचा और तीव्रतर आध्यात्मिक आनन्द है, जो मस्तिष्क और बुद्धि की सीमाओ के परे की वस्तु है। किन्तु उसे पाने के लिए हमें इन्द्रियजनित सारे सुखों को छोडना पड़ेगा। यही उपयोगिता का चरम बिन्दु है। उपयोगिता वही है जिसका मैं उपभोग करूँ, प्रत्येक आदमी उपभोग करे, और उसी उपयोगिता की हमे तलाश है।

स्वामी जी मानते हैं कि यह अन्तः स्फुरण ही धर्म का एकमात्र मूल स्रोत है, फिर भी इसमें भी सदा खतरे की सम्भावना रहती है। और सबसे बड़ा खतरा है 'दावे का अतिरेक'। कुछ लोग आकर कहने लगते हैं कि उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हुआ है, वे सर्वशक्तिमान् ईश्वर के प्रवक्ता हैं तथा उनके सिवा किसी और को यह अधिकार नहीं मिला है। आपाततः यह कथन ही अनुचित है। अगर विश्व में ऐसी कोई चीज है, तो वह सर्वव्यापक है। ऐसी कोई भी क्रिया नहीं, जो विश्व मे सर्वत्र नहीं हो सकती, क्योंकि विश्व तो नियमबद्ध है, सर्वत्र ही इसमें नियमितता तथा

सामंजस्य है। इसलिए अगर कोई चीज एक जगह है, तो वह हर जगह होगी। जिस नियम से एक परमाणु बना है, उसी नियम से बडे–बडे नक्षत्र और ग्रह भी बने हैं। **अगर कभी किसी एक व्यक्ति को दैवी प्रेरणा मिली है, तो विश्व के हर व्यक्ति को प्रेरणा मिलने की सम्भावना है और यही धर्म है।** तुम इन सारे खतरो तथा भ्रमों से अलग हटकर धर्मिक तत्वों के संसर्ग में आओ और धर्म के विज्ञान का साक्षात्कार करो। बहुत सारे सिद्धांतों मे विश्वास करने, बडे–बडे ग्रन्थ पढने तथा मन्दिर–मस्जिद मे जाने में ही धर्मिकता निहित नहीं हैं। क्या तुमने ईश्वर दर्शन किया है? तुमने आत्मा की अनुभूति की है ?अगर नहीं तो क्या तुम इसके लिए साधना कर रहे हो? ये सब बातें वर्तमान जीवन में ही अनुभव करने की है। इसके लिए चिरकाल तक प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं। भविष्य क्या है? असीमित वर्तमान ही भविष्य है। 'काल' क्या है? एक क्षण का पुनः–पुनः दुहराया जाना ही तो है। धर्म इसी जीवन की वस्तु है, इसी वर्तमान जीवन की।[1]

एक प्रश्न और कि लक्ष्य क्या है? आजकल लोग कहते हैं कि मनुष्य दिन दूनी रात चौगुनी प्रगति कर रहा है, किन्तु उसके समक्ष कोई ऐसा बिन्दु नहीं, जिसे वह अपने पूर्णतम विकास का प्रतीक मान ले। सतत् आगे बढ़ते जाओ, पर पहुँचो कहीं नहीं इसका जो भी अर्थ हो, जितना ही अद्भुत यह क्यों न हो, किन्तु है एकदम अनर्गल। क्या कोई भी गति सीधी रेखा में होती है? और यदि सीधी रेखा अनन्त दूर ही तक बढ़ायी जाए, तो वह एक वृत्त बना देती है, और आदि बिन्दु पर लौट आती है। जहाँ से तुमने आरम्भ किया था, वहीं लौटकर आना पड़ेगा। अगर तुमने ईश्वर से प्रारम्भ किया है, तो अन्ततः ईश्वर ही के

[1] स्वामी विवेकानन्द, धर्मतत्त्व, पृ0 33.

पास आना पड़ेगा। तब शेष क्या रह जायेगा? तुम्हारा स्फुट कार्य। अनन्त काल तक तुमको स्फुट कार्य करते रहना पड़ेगा। ऐसा करके तुम केवल अपने को ही हानि नहीं पहुँचाते, बल्कि समाज तथा आने वाली पीढी को भी हानि पहुँचाते हो। तनकर खड़े हो, अन्धविश्वास छोडकर तर्क करो। धर्म मान्यताओं का नहीं, होने तथा बन जाने का विषय है। यही धर्म है और अगर तुम इसका अनुभव कर लोगे, तो धार्मिक कहे जाओगे, इसके पहले तुम पशुओं से भिन्न नहीं हो। बुद्ध ने कहा है– ''जो तुमने सुना है, उसमें विश्वास न कर लो, न इसीलिए विश्वास न कर लो कि उसे लोग अंधे की तरह मानते हैं, न इसलिए विश्वास करो कि कोई वृद्ध महर्षि कुछ कर रहे हैं, न उन सत्यो में विश्वास कर लो जिनसे अभ्यासवश तुम्हारा सम्बन्ध हो गया है और न अपने गुरूओं अथवा वृद्धजनों के प्रमाण पर विश्वास कर लो। अपने आप सोचो, विश्लेषण करो और तब यदि निष्कर्ष तुम्हें बुद्धिसंगत तथा सबके लिए हितकर लगे, तो उसमें विश्वास करो और उसे अपने जीवन में ढाल लो।''[1]

विश्व के धर्मो के अध्ययन से हमें साधारणतया धार्मिक प्रवृत्ति की दो विधियों का पता चलता है। पहली है– **ईश्वर से मनुष्य की ओर**। जैसे– धर्मो के सेमिटिक वर्ग में ईश्वर का ज्ञान सर्वप्रथम आता है, पर आश्चर्य की बात यह है कि इसके साथ आत्मा की कोई चर्चा भी नहीं आती। यहूदी लोगों कि यह विशेषता रही है कि अपने इतिहास के आर्वाचीन काल तक उन लोगों ने मानवात्मा सम्बन्धी ज्ञान का कोई विकास ही नहीं किया था। उनके अनुसार मनुष्य मन तथा भौतिक पदार्थो के संयोग से बना है, बस । मृत्यु के साथ सब कुछ का अन्त हो जाता है। दूसरी ओर इन्हीं जातियों ने ईश्वर–सम्बन्धी अत्यन्त आश्चर्यजनक

[1] स्वामी विवेकानन्द, धर्मतत्त्व, पृ0 34.

धारणा का विकास किया था। यह धार्मिक प्रक्रिया की एक विधि है। दूसरी विधि है **मनुष्य से ईश्वर की ओर** की यह दूसरी विधि खासकर आर्यो में पायी जाती है, जब कि पहली सेमिटिक लोगों मे आर्यो ने पहले –पहल आत्मा सम्बन्धी धारणा का विकास किया। ईश्वर–सम्बन्धी इनकी धारणा अस्पष्ट, अविकसित तथा धूमिल थी। पर जैसे–जैसे उन्हे मानवात्मा का स्पष्ट ज्ञान होता गया, वैसे वैसे ईश्वर का ज्ञान भी उसी अनुपात मे स्पष्ट होता गया। इस तरह वेदो की जिज्ञासा आत्मा से ही शुरू हुई है। आर्यों ने ईश्वर–सम्बन्धी जो कुछ ज्ञान लाभ किया, वह सब मानवात्मा के ज्ञान के माध्यम से ही और इसलिए उनके सम्पूर्ण दर्शनों पर जो एक विशिष्ट छाप देखने को मिलती है वह है– 'ईश्वर–सम्बन्धी अन्तर्मुखी जिज्ञासा'। आर्य लोग सदैव अपनी आत्मा में ही ब्रह्म को खोजते रहे हैं । कालान्तर में उन लोगों की यह स्वाभाविक विशेषता बन गयी । और यह विशेषता उनकी कलाओं तथा उनके सामान्यतम व्यवहारों में भी अभिव्यंजित हुई। आज भी जब हम धार्मिक मुद्रा में बैठे किसी व्यक्ति का यूरोपीय चित्रा देखते हैं, तो पाते हैं कि चित्रकार ने उसकी आँखों को ऊर्ध्वोन्मुख दिखाया है, जैसे वह प्रकृति से बाहर, आकाश की ओर ईश्वर की खोज के लिए देख रहा हो। पर दूसरी ओर भारतवर्ष में धार्मिक प्रवृत्ति को साधक की बन्द आँखों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है, मानों वह अपने भीतर देख रहा हो।

वस्तुतः मनुष्य के अध्ययन के ये ही दो विषय हैः वाह्य प्रकृति तथा आन्तरिक प्रकृति। वैसे तो ये दोनों विषय परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, पर साधारण मनुष्य यही सोचता है कि वाह्य प्रकृति पूर्णतया आन्तरिक प्रकृति के विचारजगत् द्वारा ही निर्मित हुई है। संसार के अधिकांश दर्शन, खासकर पाश्चात्य दर्शन, ऐसा मानते हैं कि ये दोनों – जड़ और चेतन (मन) – विरोधी तत्व हैं। अन्ततः यह देखा जाता है

कि ये दोनों तत्व– परस्पर आकृष्ट होते हैं और अन्त में संगठित होकर एक ही अनन्त सत्ता का निर्माण करते हैं। मेरे इस विश्लेषण का यह कतई अर्थ नहीं कि मैं इन दोनो दृष्टियों मे से एक को उच्च और दूसरी को निम्न बताना चाहता हूँ। मेरा मतलब यह कदापि नहीं है कि जो लोग वाह्य प्रकृति के माध्यम से सत्य का सन्धान कर रहे हैं, वे गलत रास्ते पर हैं, अथवा जो आन्तरिक प्रकृति के माध्यम से ही सत्य को पाना चाहते हैं– वे अपेक्षाकृत उच्चतर कोटि के हैं। ये तो सत्य के साधन की दो विधियाँ है। दोनों ही को अवश्य ही रहना है, दोनो ही का अध्ययन करना चाहिए और अन्त में यह देखा जाएगा कि दोनो एक में मिल जाती है। हम देखेगे कि न तो शरीर मन का विरोधी है, न मन शरीर का, यद्यपि ऐसे कुछ लोग मिलेंगे, जो सोचते हैं कि यह शरीर तो कुछ भी नहीं हैं। प्राचीन काल में हर देश में कुछ लोग ऐसे मिलते थे, जो इस शरीर को सिर्फ एक रोग, एक पाप अथवा ऐसा ही कुछ और मानते थे। खैर, बाद में यह अनुभव किया गया, जैसा कि वेदो मे उल्लिखित है, कि शरीर मन मे तथा मन शरीर में विलीन हो जाता है।

हम सभी वेदों में ध्वनित होने वाला वह विषय अवश्य याद कर सकते हैं, जिस प्रकार मिट्टी के ढ़ेले को जानने से हमें संसार भर की सम्पूर्ण मिट्टी का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार वह कौन सी वस्तु है, जिसे जानकर हमें सम्पूर्ण वस्तुओं का ज्ञान हो जाएगा? वस्तुतः सम्पूर्ण मानव–ज्ञान का यही आशय है। यह उस एकत्व की खोज है, जिसकी ओर हम सभी अग्रसर हो रहे है। हमारे सभी कार्य–चाहे वे अत्यन्त भौतिक हों, चाहे वे स्थूलतम या सूक्ष्मतम हों, चाहे वे उच्चतम या परम आध्यात्मिक हों– हमें समान रूप से उसी आदर्श– एकत्व की प्राप्ति – की ओर ले जा रहे हैं। मनुष्य पहले अकेला रहता है। फिर वह विवाह करता है। ऊपर से देखने में भले ही उसमें उसका स्वार्थ झलके, पर इसके मूल

में एक ही इच्छा या प्रेरक–शक्ति है– ऐक्य की प्राप्ति। उसकी सन्ताने हैं, मित्र हैं, वह देशप्रेमी है, विश्वप्रेमी है और सम्पूर्ण विश्वप्रेम में उसकी परिसमाप्ति होती है। मानो कोई अदम्य शक्ति है, जो हमे पूर्णता की उस स्थिति में जाने के लिए बाध्य करती है, जिसमें हम अपने तुच्छ व्यक्तित्व को समाप्त कर अधिकाधिक उदार बन जाते हैं। यही वह ध्येय है, जिसकी ओर सम्पूर्ण विश्व प्रतिमान है। हर परमाणु एक दूसरे से मिलना चाहता है। परमाणु पर परमाणु मिलते जाते हैं और इस पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा ग्रहों का निर्माण होता है। फिर वे भी एक दूसरे की ओर खिचे जा रहे हैं और अन्ततः हम जानते हैं कि सम्पूर्ण विश्व–भौतिक तथा चेतन– एक अभिन्न सत्ता मे परिवर्तित हो जाता है।

जो विधान वृहत् ब्रह्माण्ड में बडे पैमानें पर काम कर रहा है, वही विधान सूक्ष्म ब्रह्माण्ड में भी छोटे पैमाने पर काम कर रहा है। जिस तरह विविधता तथा पृथकता में विश्व का अस्तित्व है और यह सदा एक अभिन्नता और एकता की ओर अग्रसर हो रहा है, उसी तरह अपने छोटे जगत् में भी प्रत्येक आत्मा मानो अन्य सभी वस्तुओं से पृथक सत्ता के रूप जन्म लेती है। जो प्राणी अज्ञानी है, जितना अप्रबुद्ध है, वह उतना ही अधिक अपने को विश्व की अन्य वस्तुओं से भिन्न समझता है। जो जितना ही अज्ञानी है, वह उतना ही अधिक सोचता है कि वह मर जायेगा अथवा जन्म लेगा और यह विचार ही विश्व से उसकी पृथकता का द्योतक है। पर हम यह भी देखते है, कि आदमी जैसे–जैसे विकसित होता और ज्ञान लाभ करता है वैसे–वैसे उसमें नैतिकता का विकास होता है और अपृथकता की भावना का प्रादुभार्व होता है। चाहे लोग इसे समझें या नहीं, उनके पीछे की यही शक्ति उन्हें निःस्वार्थता की ओर प्रेरित करती रहती है। और सारी नैतिकता की भित्ति यही है। यही सारे नीतिशास्त्रे का मूल तत्व है, चाहे वे किसी की भाषा में, किसी भी धर्म में अथवा किसी

भी पैगम्बर द्वारा उपदिष्ट हों। "तू निःस्वार्थ बन" मैं नहीं, वरन "तू" – यह भाव ही सारे नीतिशास्त्र की पृष्ठभूमि है। और इसका तात्पर्य है, व्यक्तित्व के अभाव की स्वीकृति। इस भाव का आना कि तुम मेरे अंग हो और मैं तुम्हारा, तुमको चोट लगने मुझे चोट लगेगी और, तुम्हारी सहायता करके मैं स्वय की सहायता करूँगा जब तक तुम जीवित हो, मेरी मृत्यु नहीं हो सकती। जब तक इस विश्व में एक कीट भी जीवित रहेगा, मेरी मृत्यु कैसे हो सकती है? क्योंकि उस कीट के जीवन मे भी तो मेरा जीवन है। साथ ही यह भाव यह भी सिखाता है कि हम अपने किसी भी सहजीवी प्राणी की सहायता किये बिना नहीं रह सकते, क्योंकि उसके हित में ही हमारा भी हित सन्निहित है।

वेदान्त ही सभी धर्मों का सारतत्त्व है। हम जानते हैं कि धर्म की साधारणतः तीन अवस्थाएं होती हैं। 'पहली अवस्था' है दर्शन की, सारतत्व की, 'दूसरी अवस्था' मूलभूत सिद्धांत की है। की इन सिद्धान्तो की अभिव्यक्ति पुराणों में होती है। ये पुराण महात्माओं तथा महापुरूषों, देवों अथवा दैवी आत्माओं से सम्बद्ध हो सकते हैं और इन सारे पुराणो में शक्ति की भावना अन्तर्निहित रहती है। निम्न कोटि पुराणों में– जैसे आदिम काल के पुराणों में– इस शक्ति की अभिव्यक्ति शारीरिक शक्ति के रूप में होती थी, उनके नायक महान् शक्तिशाली तथा दैत्याकार होते थे। एक ही कथानायक सम्पूर्ण संसार पर विजय प्राप्त कर लेता था। जैसे-जैसे मनुष्य का विकास होता जाता है, वैसे–वैसे वह शक्ति की अभिव्यक्ति शारीरिक स्तर से उच्चतर स्तर पर देखना चाहता है और इसलिए मनुष्य के आदर्श नायक भी उच्च स्तर के होते जाते हैं। उच्च कोटि के पुराणों के नायक महान् नैतिक पुरूष हैं। उनकी शक्ति का प्रकाश नैतिकता और पवित्रता के ही रूप में होता है। वे स्वयं समर्थ हैं, उनमें अकेले ही अनैतिकता और स्वार्थ के उमड़ते ज्वार को पीछे ढ़केल देने की क्षमता होती है। धर्म की

'तीसरी अवस्था' है **प्रतीक**, जिसे तुम कर्मकाण्ड और वाह्याचार कहते हो। पुराणों और आदर्श पुरूषों के जीवन भी कुछ लोगों के लिए पर्याप्त नहीं हैं। इसमे भी निम्न कोटि के लोग होते हैं, जो बच्चो की भाँति खिलौने के माध्यम से ही धर्म को समझ सकते हैं और इस तरह ऐसे प्रतीकों का विकास हुआ, जिन्हें वे विशिष्ट उदाहरण के रूप में इस तरह देख सकते हैं तथा अनुभव कर सकते हैं, जैसे वह ठोस पदार्थ हो।

इस तरह हमने देखा कि हर धर्म की तीन अवस्थाएं होती है- दर्शन, पुराण तथा कर्मकाण्ड। सौभाग्य से भारतवर्ष में वेदान्त धर्म में इन तीनों अवस्थाओं का विभाजन अत्यन्त स्पष्ट ढंग से हुआ है। अन्य धर्मो में सिद्धांत तथा पुराण इस तरह मिले-जुले हैं कि उन्हे अलग-अलग करके समझना अत्यन्त दुष्कर है। पुराण इतने प्रभावशाली होते हैं कि वे सिद्धांतों को निगल जाते हैं और शताब्दियों के पश्चात् ये सिद्धांत ओझल ही हो जाते हैं। उनकी व्याख्या और उनके उदाहरण ही सिद्धान्तों को निगल जाते हैं और लोग केवल व्याख्या तथा उदाहरण- आदर्श पुरूषों के जीवन- यही देखते रह जाते हैं, जबकि उनके मूलभूत सिद्धांत प्राय. तिरोहित हो जाते हैं। यह वात इस हद तक पहुँच जाती है कि अगर आज कोई ईसा मसीह के जीवन से अलग ईसाई धर्म के सिद्धांतों की चर्चा करे, तो लोग उस पर आक्रमण करेंगे, उसे गलत समझेंगे तथा मानेगें कि वह ईसाई धर्म का खण्डन कर रहा है। इसी तरह अगर कोई इस्लाम के सिद्धांतो की चर्चा करे, तो मुसलमान लोग ठीक उसी तरह बुरा मानेंगे। कारण यह है कि इन धर्मो में व्यक्त मूर्त विचारों को- इन महापुरूषों तथा पैगम्बरों की जीवनियों पूर्णतः आच्छादित कर लिया है।

स्वामी जी का विश्वास है कि "वेदान्त के साथ बडी सुविधा यह है कि यह किसी एक व्यक्ति पर आधारित नहीं रहा और इसलिए स्वभावतः

ही ईसाई, इस्लाम अथवा बौद्ध धर्म की भाँति इसके सिद्धांतो को पैगम्बरों या आचार्यो की जीवनियों ने निगल या ढ़ॅक नहीं लिया। वेदान्त में सिद्धान्त ही जीवित हैं और पैगम्बरों के जीवन मानो वेदान्त के लिए अज्ञात और गौण हैं। उपनिषदों में किसी खास पैगम्बर की चर्चा नही है, प्रत्युत अनेक स्त्री एवं पुरूष पैगम्बरो की चर्चा है। प्राचीन हिब्रू लोगों के भी ये विचार थे अवश्य, पर हम देखते हैं कि हिब्रू साहित्य का अधिकांश भाग मूसा ही अधिकृत किये हुए हैं। हमारा आशय यह कदापि नहीं कि इन पैगम्बरों का किसी राष्ट्र की धार्मिक चेतना पर छा जाना बुरा है, परन्तु यदि मौलिक सिद्धांत सर्वथा ओझल हो जाएँ, तो यह अवश्य ही हानिकारक है। जहाँ तक सिद्धांतों की बात है, हम काफी हद तक सहमत हो सकते हैं, पर व्यक्तियों के बारे में भी सहमत हों ऐसा नही हो सकता। व्यक्तियों का प्रभाव हमारे संवेगों पर पडता है, पर सिद्धांत हमे इससे उच्च स्तर पर प्रभावित करते हैं– वे हमारी सुस्थिर विचारशक्ति को प्रभावित करते हैं। अन्ततोगत्वा सिद्धांतो की ही विजय होगी, क्योंकि मनुष्य का मनुष्यत्व इसी में है। संवेग तो अनेक बार हमे पशुओं की श्रेणी तक खींचकर ले आते है। संवेगों का सम्बन्ध वुद्धि से अधिक इन्द्रियों से है। इसलिए सिद्धांत जब पूर्णत. तिरोहित हो जाते हैं और संवेगों का ही बोलबाला रह जाता है, तब धर्म का अध.पतन धर्मान्धता तथा साम्प्रदायिक कट्टरता के रूप मे होता है। वैसी स्थिति मे वे राजनीतिक दलबन्दियाँ ही रह जाते हैं, जिनके द्वारा उग्र भ्रान्त धारणाएँ फैलायी जाती हैं और उनके नाम पर हजारों अपने बन्धुबान्धवों की गर्दन काटने के लिए तैयार हो जाते हैं। यही वजह है कि यद्यपि ये महापुरूष तथा पैगम्बर मानवता के कल्याण के महान् प्रेरक हैं, फिर भी इनका जीवन तब अत्यन्त अहितकर साबित होता है, जब वे अपने आधारभूत सिद्धांतो के ही प्रतिकूल जनसमुदाय को ले चलने लगते है। इससे

धर्मान्धता का सूत्रपात हुआ है तथा संसार रक्त से आप्लावित होता रहा है। वेदान्त ऐसी कठिनाइयों से बचा सकता है।

(3) श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द द्वारा अद्वैत वेदान्तिक धर्म के तार्किक अनुप्रयोग –

प्राचीन वेदान्त में श्रवण के पश्चात् मनन् का विधान किया गया है। मनन् के विधान से यह अभिव्यक्त होता है कि वेदान्त अन्धविश्वास को प्रश्रय न देकर साधक के लिए बौद्धिक सन्तोष प्राप्ति का भी विधान करता है। परन्तु, फिर भी प्राचीन आचार्यो ने शुष्क तर्क का सर्वत्र निषेध किया है।[1] वह तर्क जो आत्म साक्षात्कार में अनुपयोगी और श्रुति विरूद्ध हो, शुष्क तर्क की कोटि में आता है। स्वामी विवेकानन्द ने अपने दर्शन में तर्क को उन्मुक्त हृदयसे स्थान दिया है। "**ईश्वर ने हमें जो बुद्धि की शक्ति दी है, उसका उपयोग अवश्य करना चाहिए। बुद्धि के विपरीत विश्वास करना कंलक की बात है।** तर्कहीन व्यक्ति का पाशविकता की ओर पतन होता है। अतः हमे तर्क अवश्य करना चाहिए।"[2] स्वामी जी धर्म को केवल विश्वासों का पुंज मानने के विरूद्ध हैं। धर्म के लिए भी तर्क का विधान करते हुए वे कहते हैं– "आज धर्म का तर्क के द्वारा अवश्य परीक्षण करना चाहिए। **यदि धर्म तर्क से ध्वस्त होते हैं तो हो जाएँ।** ऐसा कोरा अन्धविश्वासपूर्ण और निरर्थक धर्म जितनी जल्दी दूर हो जाए, अच्छा है।"[3] तर्क से धर्म के किसी भी भाग की हानि नहीं होगी, वरन् तर्क से धर्म का शाश्वत तत्व विजयी होगा।"[4] स्वामी जी ने अन्धविश्वास का आश्रय ग्रहण कर आस्तिक होने की अपेक्षा युक्ति का

[1] नानेन मिषेण शुष्कतर्कस्यात्राात्मलाभः सम्भवति। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, 2-1-6।
[2] विवेकानन्द साहित्य (खण्ड 2), पृ0 245।
[3] विवेकानन्द साहित्य (खण्ड 2), पृ0 278।
[4] विवेकानन्द साहित्य (खण्ड-2), पृ0 278।

अनुसरण कर नास्तिक बन जाने वाले व्यक्ति को अच्छा बताया।''[1] स्वामी जी ने कहा कि ''मुक्ति में चाहे जितना दोष क्यो न हो, उसमे फिर भी कुछ न कुछ सत्य लाभ की सम्भावना रहती है।''[2] विचार न करने से हम अनेक भ्रमों में पड जाते है। विचार–शक्ति उन भ्रमों का विनाश करती है।''[3] स्वामी जी ने आज के युग में श्रुति–प्रमाण की अपेक्षा युक्ति–प्रमाण को अधिक उपादेय बताया। ''आज शास्त्रों की या धर्म–ग्रन्थो की प्राचीनता की दुहाई देने से काम नही चलेगा, आज तर्क ही परीक्षण का सर्वश्रेष्ठ साधन है।''[4]

तर्क के महत्त्व को उन्मुक्त हृदय से स्वीकार करते हुए भी स्वामी जी ने तर्क की कुछ सीमाएँ निर्धारित की है। ''तर्क या बुद्धि से आत्म–साक्षात्कार नही किया जा सकता, क्योंकि आत्मतत्व मन, बुद्धि की समस्त प्रक्रियाओं से परे है।'' ''विचित्र रूप से शब्दों की जोड–तोड़, शास्त्र व्याख्या की विभिन्न शैलियाँ केवल पण्डितों के लिए हैं, हमारे लिए नहीं, आत्म–साक्षात्कार के लिए नहीं।''[5]

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि **धर्म वह नैतिक बल है जो व्यक्ति** और राष्ट्र को शक्ति प्रदान करता है। उन्होंने अपने एक व्याख्यान में [illegible]पूर्ण शब्दों में घोषणा की थी, '' हमारा समय रोने के लिए नहीं है, हम आनन्द के आँसू भी नहीं बहा सकते, हम बहुत रो चुके, यह

[1] It is better that mankind should become atheist by following reason than blindly believe in two hundred million of gods - Complete works of Swami Vivekananda, Vol II, P 336

[2] Ibid, p 336

[3] Ibid, P 307

[4] Ibid, P. 335.

[5] Complete Works of Swami Vivekananda, Vol II, p. 306-7

समय कोमल बनने का नही है। कोमलता हमारे जीवन में इतने लम्बे समय से चली आ रही है कि हम रूई के ढ़ेर के सदृश हो गए हैं।. . . . . आज हमारे देश को जिन चीजों की आवश्यकता है वे हैं लोहे की मांसपेशियाँ, इस्पात की तंत्रिकाएं, प्रकाण्ड संकल्प जिसका कोई प्रतिरोध न कर सके, जो अपना काम हर प्रकार से पूरा कर लें, चाहें उसके लिए हमें महासागर के तल में जाकर मृत्यु का आमना-सामना हीं क्यों न करना पड़े। यह है जिसकी हमें आवश्यकता है, और इसका हम तभी सर्जन कर सकते हैं, तभी स्थापना कर सकते हैं और उसे तभी शक्तिशाली बना सकते हैं जबकि हम अद्वैत के आर्दश का साक्षात्कार कर लें, सबकी एकता के आदर्श की अनुभूति कर लें। अपने में विश्वास, विश्वास और विश्वास। यदि तुम्हें अपने तैंतीस करोड़ पौराणिक देवताओं में तथा उन सब देवताओं में विश्वास है जिन्हें विदेशियों ने तुम्हारे बीच प्रतिष्ठित कर दिया है, किन्तु फिर भी अपने में विश्वास नहीं है, तो तुम्हारा उद्धार नहीं हो सकता। अपने में विश्वास रखो और उस विश्वास पर दृढ़तापूर्वक खडे रहो।............. क्या कारण है कि हम तैंतीस करोड़ लोगों पर पिछले एक हजार वर्ष से मिट्ठी भर विदेशी शासन करते आए हैं? क्योंकि उन्हे अपने में विश्वास था और हमें नहीं है।"[1]

उन्होंने गरजते हुए शब्दों में कहा था, **"शक्ति जीवन है, दौर्बल्य मृत्यु है"**। जवाहर लाल नेहरू ने अपनी पुस्तक "भारत की खोज" में बतलाया है कि स्वामीजी की शिक्षाओं का सार 'अभयम्' था। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है, "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।" **विवेकानन्द क्षत्रियों के पुरूषत्व और ब्राह्मणों की बौद्धिकता का समन्वय करना चाहते थे।** उन्होनें अपने को दुर्बल बनाने वाले सभी

[1] Complete Works of Swami Vivekananda, Vol III, P 190

रहस्यात्मक भावनाओं से दूर रखा। **स्वामी जी अद्वैतवादी होते हुए भी लौकिक क्षेत्र मे ओजस्वी तथा साहसपूर्ण कर्म के सार्थक थे और उन्होनें वीरतापूर्वक इस बात का सन्देश दिया कि निरपेक्ष शूरत्व तथा दृढ़ और साहसपूर्ण विश्वास इतिहास को हिला सकता है।** भारत भूमि ने इस प्रकार की अनेक भक्ति–परम्पराओं को जन्म दिया है जिनमें व्यक्ति बौद्धिक वितण्डावाद की अवहेलना 'तैलाधारवत्' अविच्छिन्न और अनन्य रूप से भगवद्भक्ति–सागर में अवगाहन कर सकता है। रामकृष्ण परमहंस भी इसी प्रकार की भक्ति पराम्परा के अनुयायी हैं। परमहंस जी ने सैद्धान्तिक वाद–विवाद में सदैव मानसिक घुटन अनुभूत की एवं तार्किक परिचर्चा में उन्हें सदा दुर्गन्ध का आभास हुआ। ऐसे विलक्षण व्यक्तितव की परिचर्चा में से सूक्ष्म सैद्धान्तिक निष्कर्षो का अन्वेषण करना ही एक प्रकार का दुष्प्रयास होगा। उन्होनें अपने "वचनामृतों" में न तो किसी नवीन "वाद" का प्रतिपादन किया और न ही प्राचीन मान्यताओं का कठोर रूप से खण्डन ही किया। उनके समस्त वचनामृतों में सदैव एक ही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है और वह है "समन्वयवाद" की। सगुण–निर्गुण, साकार–निराकार, ज्ञान–कर्म–भक्ति आदि सभी सैद्धान्तिक विवादों में उन्होंने समन्वय का अवलम्बन किया। जब कभी उन्होंने अपनी परिचर्चाओं में सैद्धान्तिक पक्ष का समावेश किया तब वह पक्ष उनकी समन्वयवादी मनोवृति के कारण दूसरे पक्ष से जा मिला। अतः उनकी चर्चाओं से कठोर सीमाबद्ध निष्कर्षो का प्रतिपादन यद्यपि दुष्कर है तथापि असम्भव नहीं है।[1]

स्वामी विवेकानन्द ने उपनिषदों के अद्वैतवाद का जिसे बादरायण और शंकर ने पंक्तिबद्ध किया था, समर्थन किया। उनका कहना था कि 'सच्चिदानन्द ही परम् तथा नित्य सत्ता (परमार्थ सत्) है और दार्शनिक

[1] V S Narvane - Mordern Indıan Thought, P 64

चिन्तन तथा जीवन के द्वारा उसका साक्षात्कार किया जा सकता है।' आचार्य शंकर के मतानुसार जगत्, ब्रह्म का विवर्त है। किन्तु विवेकानन्द ने ब्रह्मण्ड की सत्ता को पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया, यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से उन्हें ऐसा करना चाहिए था। उन्हें अपने गुरू श्री रामकृष्ण देव से प्रेरणा मिली थी और श्री रामकृष्ण देव विश्व के नियामक तत्व को माता के रूप में देखते थे। यह विचार, ही तन्त्र का मुख्य सिद्धांत है और बीज रूप में प्राचीन सिन्धु तथा पश्चिमी एशिया के धर्मों में देखने को मिलता है।[1]

(4) श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द का अनुभूतिमूलक अद्वैत **वेदान्तिक धर्म -**

श्री रामकृष्ण देव सच्चे धर्म की जीवन्त प्रतिमूर्ति थे। उन्होनें धर्म को जिया था और अपने जीवन से ही अपने शिष्यों को वह शिक्षा दी थी। जो स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में "Religion in Realisation" (धर्म अनुभूतिमूलक है) के रूप में अभिव्यक्त हुआ। मनुष्य का सारभूत तत्व उसकी चेतना है जो अपने स्वरूप में दिव्य कही गई है। धर्म मनुष्य की इस अन्तर्निहित दिव्यता का प्रकाशन है। व्यक्ति की कोई भी गतिविधि उसकी चेतना से अनुप्राणित होती है, अतः दिव्य चेतना से अनुप्राणित कार्य भी दिव्य होते हैं। व्यक्ति के कार्यों का सम्बन्ध समाज से होता है, अतः व्यक्ति की चेतना भी समाज की चेतना से जुड़ती है। यह सच है कि व्यक्ति की सामाजिक गतिविधियों में विविधता होती है, किन्तु उन समस्त गतिविधियों में उस व्यक्ति की वैयक्तिता की एक अनुगूंज भी होती है जो उसे एकसूत्रता प्रदान करती है। व्यक्ति की वैयक्तिता उसके संस्कारों से

[1] समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।
समं पश्यन्हि सर्वत्रा समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्ममानं ततो याति परांगतिम् ।। (गीता, 13, 27-28)

प्रेरित मन और बुद्धि की गुणवत्ता से निर्धारित होती है क्योंकि निर्विषयक चेतना तो सार्वभौमिक तत्व है, वैयक्तिक नही।

श्री रामकृष्ण देव ने जिस धर्म का उपदेश दिया, वह व्यक्ति के मन का परिमार्जन और बुद्धि का प्रशिक्षण करता है। अतः धर्म का सम्बन्ध यदि एक ओर व्यक्तिगत जीवन से है, व्यक्ति के निर्माण से है, तो वहीं वह व्यक्ति समाज की एक इकाई भी होता है, और इस रूप में व्यक्ति–निर्माण से समाज–निर्माण भी होता है। यही सत्य वैयक्तिक चेतना और सामाजिक चेतना के अन्तर्सम्बन्धों का भी वाहक है। अब, चूँकि, सामाजिक जीवन के अनेक पहलू हैं, अतः प्रश्न उठता है कि रामकृष्ण जैसे धार्मिक व्यक्ति का समाज के धार्मिक जीवन के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में क्या योगदान है? सर्वप्रथम तो उन्होंने पुनर्जागरण–कालीन अनेक सामाजिक नेताओं परम्परागत भारतीय समाज के आधार कहे जाने वाले वर्ण–व्यवस्था की दुहाई देकर जातिगत विद्वेष के रक्तबीज बोने वालो को सही मार्ग दिखाये हैं। जाति वस्तुतः क्या है? किसी मनुष्य विशेष का ''शरीर' नही है, क्योंकि सभी मनुष्यों के शारीरिक तत्व एक समान है, किसी व्यक्ति का 'मन' भी नहीं है क्योंकि मन का स्वरूप भी सब में एक समान है वह बुद्धि–तत्त्व भी नही है, क्योंकि बुद्धि–तत्त्व का स्वरूप भी सब मनुष्यों में समान है। यह 'चेतना' भी नही है, क्योंकि स्वयं चेतना से ही तो सभी गुण–तत्त्व प्रकाशित होते हैं। अतः जाति कोई तत्त्व न होकर तत्त्वगत विशेषता है। वह तत्त्वगत विशेषता इस जगत् की अनेकता में अनुस्यूत है।

श्री रामकृष्ण देव की अनुभूति है कि जगत् के समस्त प्राणियों के भीतर से वही परमतत्त्व झांक रहा है। स्वयं उनके शब्दों में – विभिन्न जीव ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे सभी मोम के विभिन्न आकार हों, किन्तु

उन सबके भीतर वही आद्या- शक्ति, वही परब्रह्म प्रकाशित है। अतः जातिगत उच्चता के अहम् के कारण जहाँ एक ओर कुछ मनुष्य अपने वास्तविक लक्ष्य से भटकते रहते हैं, वहीं जातिगत निम्नता की हीनभावना से ग्रसित अन्य मनुष्य पतन के गर्त में ही बहुमूल्य मानव जीवन नष्ट करते हैं। जातिगत सौहार्द्र की स्थापना करते हुए रामकृष्ण ने केवल आत्मिक शुद्धता को वरीयता देकर सभी जातियों को समान रूप से अपनाया। जातिगत अहम्, खोखले ऊँच और नीच के भेद को अपने जीवन में समाप्त करने की पराकाष्ठा हमें तब दिखती है जब वे अपने साधनकाल में उस परिया के घर में उसके शौचालय को साफ कर अपने लम्बे-लम्बे केशों से उसे पोंछ डालते हैं। **समाज के गरीब, पददलित और जरूरतमंदों के लिए, उनके विकास अथवा उत्थान के लिए शिवभाव से जीव-सेवा का संदेश भी रामकृष्ण का ऐसा योगदान है जो एक साथ ही सामाजिक और धार्मिक दोनों सन्दर्भों से जुड़ता है। यह उनकी जीव-सेवा की अवधारणा का ही फल है जिसे परवर्ती काल में स्वामी विवेकानन्द ने भूखों के लिए रोटी और अशिक्षितों के लिए शिक्षा आदि कार्यों के रूप में विकसित किया।** स्वयं उनके ही शब्दों में – ''दरिद्रता के लिए कार्य उत्पन्न करने हेतु न केवल भौतिक सभ्यता अपितु विलासिता भी आवश्यक है। रोटी! रोटी! मुझे उस ईश्वर में विश्वास नहीं है। जो मुझे रोटी नहीं दे सकता और स्वर्ग में शाश्वत आनन्द देता है। उँह! भारत को उठाना है, मुझे गरीबों को भोजन देना है, शिक्षा का प्रसार करना है और पोपलीला का अन्त करना है। पोपलीला का नाश हो, सामाजिक अत्याचार का नाश हो। अधिक रोटी प्रत्येक के लिए अधिक अवसर।'' धर्म के आधार पर हो रहे सामाजिक बिखराव को रोकने के लिए भी श्री रामकृष्ण देव ने एक ज्वलन्त आदर्श प्रदान किया । हिन्दू, इस्लाम और ईसाई धर्मों की पृथक-पृथक साधना करते हुए वे एक

हीं लक्ष्य पर पहुँचे थे, और इस प्रकार धर्म के आधार पर भी सामाजिक एकता का एक आदर्श उन्होंने स्थापित किया। यह विचार धारा भी अद्वैतिक मत का प्रतिपादन करते हुए सभी धर्मों के एकत्व का ही प्रतिपादन करती है।

उनका जीवन और कृत्तित्व जिस केन्द्रीय धुरी पर घूमता है वह है– **'ईश्वर'**! वह एक ऐसे व्यक्ति थे जिनके लिए समाधि ही ज्ञान प्राप्त करने का सतत् साधन था। समाधि में तो मनुष्य के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है। हर पल उनका चित्त अनेक में से एक की ओर ही दोलायमान था। उनका हर क्षण अतिचेतन भूमिका से संग्रहित ज्ञान की वाणी से ध्वनित होता था। उनके सन्निकट स्थित हर व्यक्ति को ईश्वर–दर्शन की झलक मिल जाती थी और शिष्यों की भी परम ज्ञान की अभीप्सा, ज्वर चढ़ने के सदृश जग उठती थी। उन्होनें धर्म में विवेक–विचार को महत्त्वपूर्ण स्थान देकर जिस धार्मिक जागरण को आन्दोलित किया उसका प्रभाव भी राजनीतिक पटल पर अपनी परम्परा और संस्कृति के प्रति सम्यक् दृष्टि एवं राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण के रूप में प्रतिफलित हुआ। धार्मिक क्षेत्र में उनके अप्रत्यक्ष योगदान का एक सन्दर्भ स्वामी विवेकानन्द के माध्यम से अभिव्यक्त होता है क्योंकि **विवेकानन्द के निर्माणकारी तत्वों में एक प्रधान तत्त्व स्वयं स्वामी रामकृष्ण परमहंस का जीवन और उनकी शिक्षाएं थीं**। वस्तुतः रामकृष्ण की समस्त शिक्षाओं, उनके समस्त योगदानों– चाहे वे सामाजिक या धार्मिक ही क्यों न हों– के मूल में है उनकी **अद्वैतानुभूति** जो उनके उपदेशों में निहित रहती है। जिस परमतत्त्व को वह सभी प्राणियों के भीतर झाँकता हुआ देखते हैं और मानव मात्र की समानता के तात्विक आधार का प्रतिपादन करते हैं, वह यही अद्वैतानुभूति है। समाज में शिव भाव से जिस जीव सेवा का वह उपदेश करते हैं उसका शिव भाव यही अद्वैतानुभूति है। विभिन्न धर्मों के समान

लक्ष्य पर पहुँचने के सत्य का उद्घाटन भी यही अद्वैतानुभूति है। यह **अद्वैत ही उनकी धार्मिक अनुभूतियों का प्राणतत्व है।**

धार्मिक संदर्भ में स्वामी विवेकानन्द के मत का विवेचन करने के पूर्व धर्म–विषयक उनकी चेतावनी का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है जिसके अनुसार **'धर्म' जानने से अधिक होना है।** अतः यहाँ धर्म की किसी भी विवेचना का तात्पर्य शाब्दिक विश्लेषण अथवा बौद्धिक विश्वास से न होकर आत्मानुभूति एवम् उनके निरूपण से है। इस अनुभूति का निरूपण क्या है? और वह धर्म, जिसके संदर्भ में कहा गया है कि यह जानने से अधिक होने में है, तो वह 'होना क्या है?' स्वामीजी के अनुसार प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। हमारा लक्ष्य आन्तरिक एवम् वाह्य प्रकृति पर नियंत्रण करते हुए इस दिव्यता का प्रकाशन करना है। इसे या तो कर्म से, अथवा उपासना से अथवा इन्द्रिय संयम से अथवा ज्ञान से, इनमें से एक, दो अथवा सभी से प्राप्त करो और स्वतंन्त्र हो जाओ, यही धर्म का सर्वस्व है। विभिन्न वाद, रूढ़ियों, कर्मकाण्ड धर्मग्रन्थ अथवा उपासना–गृह गौण रूप है। इन स्वतंत्र होने के साधनों मे ही विभिन्नता है और झगडा इस विभिन्नता को लेकर ही है। इसी झगड़े को दूर करने का तात्पर्य है समभाव। स्वामीजी के अनुसार मनुष्य सर्वत्र अन्न ही खाता है, किन्तु देश–देश में अन्न से भोजन तैयार करने की विधियाँ अनेक हैं। इसी प्रकार धर्म मनुष्य की आत्मा का भोजन है एवम् देश–देश में उसके भी अनेक रूप हैं। यदि केवल मेरे ही हाथ में छह उँगलियां हों और आप सबके पाँच, तो आप यह नही सोचेंगे मेरा हाथ प्रकृति का सच्चा अभिप्राय है प्रत्युत यह समझेंगे कि वह अस्वाभाविक है और एक रोग विशेष है। यही बात धर्म के सम्बन्ध में लागू भी होती है। **किसी भी देश में अनेक धर्म के लोग रह सकते हैं, उनको उसके पालन की स्वतंत्रता होनी चाहिए। सहिष्णुता सह–अस्तितत्व के लिए आवश्यक है, यही**

सर्वधर्म समभाव है और स्वामी विवेकानन्द इसी के उद्गाता हैं।

निष्कर्ष –

विवेकानन्द के सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों का स्रोत भी उनकी यही व्यवावहारिक–वेदान्तिक धारणा थी कि अन्तरात्मा सर्वशक्तिमान तथा सर्वोच्च है। इसलिए उन्होंने पीड़ित जनता को अभय, एकता तथा शक्ति का क्रांतिकारी संदेश दिया। **सामाजिक विषमता और राजनीतिक पराधीनता के विरूद्ध प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सिंहनाद के मूल में उनकी यह अद्वैतानुभूति ही है कि आत्मा ही परम सत् है जो समस्त भेदों से अतीत है और स्वतंत्रता ही जिसका स्वभाव है।** उनका तो यहाँ तक कहना था कि कला, विज्ञान एवम् धर्म एक ही सत्य की अभिव्यक्ति के त्रिविध माध्यम हैं, लेकिन इसे समझने के लिए निश्चय ही हमें अद्वैत का सिद्धांत चाहिए। **यह अद्वैत रूपी परमसत् उनके धार्मिक विचारों का भी मेरूदण्ड है।**

श्री रामकृष्ण और स्वामी जी के शब्द, दृष्टान्त और शैली भले ही भिन्न हों, किन्तु दोनों ने हीं अनुभूति के विभिन्न स्तरों पर अखण्ड अद्वैत की स्थापना करने की चेष्टा की है। चाहे वह रामकृष्ण के द्वारा प्रतिपादित सर्वधर्म समन्वय, निराकार–साकार की एकता, सच्चिदानन्दरूपिणी महाशक्ति माँ काली तथा निर्विशेष, निराकर परब्रह्म की एकता का सिद्धांत हो, चाहे स्वामी जी के द्वारा कही गई मनुष्य की दिव्यता, एकता और चरित्र निर्माण की बातें हों, इन सबका प्रयोजन अद्वैत भाव की स्थापना ही है। युगीन समस्याओं का समाधान भी स्वामीजी ने मनुष्यमात्र में

अन्तर्निहित अखण्ड आत्मतत्त्व की समानता के आधार पर ही किया है। फिर वह चाहे जातिभेद का उन्मूलन हो, छुआछूत का विरोध हो, शिक्षा के क्षेत्र में स्त्री-पुरूष का समान अधिकार हो, शारीरिक बल और आत्मिक-सम्पन्नता की बात हो, आध्यामिक उन्नति, त्याग और सेवा का आदर्श हो और चाहे राष्ट्रीयता और राष्ट्र-गौरव की बात हो, सबके मूल में उपनिषदों के अद्वैत घोष की प्रेरणा स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। स्वामी जी ने अद्वैत वेदान्त को ही भविष्य के धर्म के रूप में स्थापित किया। विवेकानन्द जी कहते हैं कि मैं यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि अद्वैत वेदान्त ही एकमात्र ऐसा धर्म है जो आधुनिक वैज्ञानिकों के सिद्धान्तों के साथ भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों दिशाओं में केवल मेल ही नहीं खाता वरन् उनसे भी आगे जाता है और इसी कारण वह आधुनिक वैज्ञानिकों को इतना भाता है। उनके अनुसार प्राचीन द्वैतवादी धर्म अपर्याप्त है।[1]

शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्तिक धर्म के परम तत्त्व को 'ब्रह्म' शब्द से अभिहित किया तथा सम्पूर्ण जगत् में इसी का प्रकाशन स्वीकार किया। शंकराचार्य की वैचारिक परम्परा को व्यावहारिक रूप से आगे बढाते हुए रामकृष्णदेव एवं उनके मानस पुत्र विवेकानन्द ने धर्म के अभिप्राय को मानवता के प्रेम से जोड़ दिया। उनके अनुसार मनुष्य जाति में संघर्ष और घृणा का समय-समय पर जो ताण्डव हुआ है वह धर्म को ठीक से नहीं समझने के कारण हुआ है। उनके अनुसार धर्मों के प्रति सहिष्णु होना ही

[1] ज्ञानयोग : स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर 16 वाँ संस्करण, पृ0 96

पर्याप्त नहीं है। सहानुभूति, मित्रता और सद्भाव से ही काम नहीं चलेगा बल्कि हमें एक दूसरे के धर्मों में सहभागी भी होना पड़ेगा।

शोधकर्ता ने ऐसा अनुभव किया है कि रामकृष्ण एवं विवेकानन्द द्वारा धर्मों की सहभागिता पर जोर देना मानवता की पुर्नस्थापना है जो प्रत्येक बुद्धिजन्य मानव का स्वरूप–धर्म है और होना चाहिए। विवेकानन्द के परवर्त्ती विचारकों गाँधी आदि ने इसे अपने जीवन में अपनाकर विश्व–शान्ति का संदेश प्रसारित किया था जो आज भी अनुकरणीय है।

3

निरपेक्ष सत् की अवधारणा -

1. अद्वैत वेदान्तिक निरपेक्ष सत्
2 श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द का निरपेक्ष सत्
   - (i) निरपेक्ष सत् को समझने की दृष्टि
   - (ii) निरपेक्ष सत् एवं माया
   - (iii) निरपेक्ष सत् के भेद
   - (iv) निरपेक्ष सत् एवं जीव
3. श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द के निरपेक्ष सत् सम्बन्धी विचारधारा की समीक्षा

अपरिवर्तनशील है। उसका न विकास होता है और न हीं रूपान्तर। वह निरन्तर एक समान ही रहता है।[1]

ब्रह्म को अनिर्वचनीय माना गया है। उपनिषद् में ब्रह्म को 'नेति नेति' अर्थात् 'यह नहीं है' कहकर वर्णन किया गया है। ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहने का यह अर्थ नहीं है कि वह अज्ञेय है। ब्रह्म की अनुभूति होती है। इस प्रकार ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष और निराकार है। ''सत् और असत्, एक और अनेक, ...ज्ञान और अज्ञान, कर्म और अकर्म, क्रियाशील और अक्रियाशील, फलदायक और फलहीन, .. . इत्यादि प्रत्यय ब्रह्म पर लागू नहीं हो सकते। ब्रह्म सच्चिदानन्द है। सत् चित् और आनन्द में अवियोज्य सम्बन्ध है जिसके फलस्वरूप तीनों मिलकर एक हीं सत्ता का निर्माण करते हैं।'' **तैत्तिरीय उपनिषद् (3.1.9)** में कहा गया है कि केवल वही (ब्रह्म) तत्त्व इस जगत् का मूल कारण कहा जा सकता है, जिससे सभी वस्तुओं की उत्पत्ति हो, जो सभी वस्तुओं की सत्ता का आधार हो और जिसमें अन्ततः सभी वस्तुओं का लय हो। तात्पर्य यह है कि वस्तु जगत् का आदि, आधार, और अन्त ब्रह्म ही है और ब्रह्म हीं परम तत्त्व है।

[1] It does not unfold express develop, manifest, grow and change for it is self identical throughout - Indian Phil, Vol II (Page 587) -By Radhakrishnan.

(2) श्रीरामकृष्ण एवं विवेकानन्द का निरपेक्ष सत् –

श्री रामकृष्ण देव कहते हैं कि ब्रह्म विद्या और अविद्या के द्वैत से परे है। इसके लिए वे एक उपमा देते हैं कि 'जिस प्रकार पॉव में चुभे कॉटे को एक दूसरे कॉटे से निकालकर फिर दोनों कॉटों को फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार विद्या के द्वारा अविद्या की निवृत्ति हो जाने के पश्चात् विद्या को भी त्यागना होता है।'

प्रायः अद्वैत विचारकों के समान ही विवेकानन्द कहते हैं कि सत् एक निरपेक्ष ब्रह्म है। ब्रह्म ही एक और एक मात्र सत् है। विवेकानन्द इस सत्ता के एकत्व पर इतना अधिक जोर देते हैं कि उसे 'सम्पूर्णता' कहना भी उपयुक्त नहीं समझते। 'सम्पूर्णता' शब्द स्वयं में विविध अवयवों का संघात होना द्योतित करता है। अतः यदि सत् के लिए भी इसी संज्ञा का प्रयोग किया जायेगा तो उसे भी विविध अंशों का समवाय स्वीकार करना पड़ेगा, जबकि ब्रह्म अविभाज्य है। वस्तुतः निरपेक्ष सत् की अवधारणा अमूर्त विचार प्रक्रिया की अन्तिम सीमा है। यही कारण है कि निरपेक्ष सत् अनिवार्यतः तथा अद्वैत रूप में एक है, असीम अविभाज्य है। असीम के अवयव या अंश नहीं होते। निरपेक्ष सत् का विभाजन नहीं हो सकता।

ब्रह्म देश, काल, कारणता आदि से परे है। कालातीत होने के कारण वह अपरिवर्तनशील है। वह कूटस्थ नित्य है, कारण कार्य के सम्प्रत्यय ब्रह्म पर लागू नहीं होते हैं। हम पूछते हैं ब्रह्म पर किस कारण ने कार्य किया, तो हम कितनी बड़ी भूल करते हैं। यह प्रश्न करने का अर्थ है कि ब्रह्म भी किसी अन्य के अधीन है– वह निरपेक्ष ब्रह्म सत्ता भी अन्य किसी के द्वारा बद्ध है। अर्थात् ब्रह्म अथवा निरपेक्ष सत् शब्द को हम जगत् के समान समझते हैं। हम उसे जगत् के स्तर पर नीचे खींच लाते हैं। ब्रह्म में देश–काल–निमित्त है ही नहीं क्योंकि वह एकमेवाद्वितीय है। अपनी

सत्ता का जो स्वयं ही आधार है उसका कोई कारण हो ही नहीं सकता है।

इससे स्पष्ट होता है कि स्वामी जी निर्गुण और सगुण का तात्त्विक भेद नहीं स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार **परम तत्त्व एक अद्वैत ब्रह्म है। वह निरपेक्ष, अनन्त और अविभाज्य है।** अविभाज्य होने के कारण ब्रह्म को निरवयव कहते हैं, क्योंकि उसका कोई अवयव या अंग नहीं है। स्वामी जी परम तत्व (ब्रह्म) को दिक्, काल और कारणता के परे मानते हैं। अनन्त को दिक् और काल की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। अनन्त ही नित्य या शाश्वत होता है, क्योंकि वह कारणजन्य नहीं होता। जो कारणजन्य होता है, वह अनित्य होता है। नित्य का कोई कारण नहीं होता। इस प्रकार निरपेक्ष परम तत्व (ब्रह्म) को दिक्, काल, कारणता आदि की अपेक्षा नहीं।

श्री रामकृष्ण कहते हैं कि – वेद, तन्त्र, पुराण एवं अन्य स्मृतियाँ और श्रुतियाँ मनुष्यों द्वारा बार-बार उच्चारित होने के कारण उच्छिष्ट हो चुकी हैं। ब्रह्म ही एक मात्र एक ऐसा तत्त्व बचा है जिसे कोई वाणी अब तक दूषित नहीं कर पायी है क्योंकि ब्रह्म वाणी की पहुँच के बाहर है।[1] **श्री रामकृष्ण देव प्रायः कहा करते थे कि ब्रह्म निर्गुण, अगतिशील, अचल एवं मेरुपर्वत की तरह दृढ़ है। वह शुभ और अशुभ दोनों से उसी प्रकार अतीत है, जिस प्रकार कि दीपक का प्रकाश भगवद्गीता पढ़ने के लिए भी और जालसाजी करने के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है।**[2] पुनः, ब्रह्म एक सर्प के समान है जिसके भीतर विष पाया जाता है। जिस प्रकार सर्प का विष दूसरों के लिए तो वास्तविक विष है

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश, मलापुर मठ, मद्रास, 1960, पृ0 261।
[2] श्री रामकृष्ण उपदेश, मलापुर मठ, मद्रास, 1969, पृ0 261।

पर स्वयं सर्प उससे तनिक प्रभावित नहीं होता, ठीक उसी प्रकार संसार में जो दुःख, क्लेश, पाप व अन्य प्रकार के अशुभ पाए जाते हैं, वे ब्रह्मेत्तर अज्ञानी मनुष्यों के लिए है, स्वयं ब्रह्म इनसे तनिक भी प्रभावित नहीं होता। ब्रह्म शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, दुःख-सुख इत्यादि द्वन्दों से सदा अतीत है।[1] वह ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म, मन-वाणी, धारणा-ध्यान, ज्ञाता-ज्ञेय, सत्-असत् इत्यादि धारणाओं से भी अतीत है। वह सभी प्रकार की सापेक्षिकता से परे है। बह्म उस आकाश के समान है जिसमें यद्यपि सभी प्रकार की गन्ध पायी जाती है पर वह आकाश स्वयं इससे दूषित नहीं होता है।[2]

स्वामी जी कहते हैं कि 'उसी की शक्ति' से आकाश में विस्तार है, उसी की शक्ति से वायु का श्वांस है, उसी की शक्ति से सूर्य चमकता है तथा उसी की शक्ति से सभी जीवित हैं। वही जगत् का सत्य है, वही आत्म की आत्मा है।[3] इसी बात को अन्य रूप में अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, ''निरपेक्ष सत् महासागर है, जबकि आप और हम, सूर्य एवं तारे तथा अन्य सभी कुछ उसी सागर की विभिन्न तरंगे हैं। इन तरंगों की एक दूसरे से भिन्नता क्या है? वह भिन्नता केवल आकार की है, जो आकार काल, स्थान और कारणता है, जो सब उन तंरगों पर ही पूर्णतया आधृत है।[4]

[1] रामकृष्णवचनामृत (द्वितीय भाग), पृ0 454।

[2] वही, (प्रथम भाग), पृ0 533।

[3] "Through his control the sky expands, through his control the air breathes, through his control the sun shines, and through his control all live He is the reality in nature, He is the soul of your soul " - Swami Vivekananda, complete works, Vol II, p. 236

[4] " . The absolute is that ocean, while you and I, and sun and stars, and every thing else thing eles are various waves of that ocean

अद्वैत के पोषक होने के कारण स्वामी विवेकानन्द परम तत्व (ब्रह्म) को अनिर्वचनीय भी मानते हैं। परन्तु, उनकी अनिर्वचनीयता की धारणा अन्य अद्वैतवादियों से भिन्न है। अद्वैतवादियों के अनुसार 'परम तत्त्व अनिर्वचनीय है' का अर्थ है कि परम तत्त्व वचन–विन्यास के परे है, बुद्धि के सभी विकल्पों के परे है। हम परम तत्त्व को भाव, अभाव (सत् और असत्) रूप में नहीं कथन कर सकते। अतः जो अवाङ्मनसगोचर होने के कारण बुद्धि के सभी विकल्पों के परे है, वह निश्चय ही अनिवर्चनीय है। स्वामी जी के अनुसार वह अप्रमेय अवश्य है, परन्तु स्वानुभूतिसम्वेद्य नही। वह यथार्थ ज्ञान या प्रमा का विषय नहीं, क्योंकि प्रमा तो बौद्धिक ज्ञान है जो बुद्धि की सभी कोटियों के परे है, वह अबौद्धिक या बुद्धयातीत है। अतः अबौद्धिक को अप्रमेय ही माना जा सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह स्वानुभूतिसम्वेद्य है। अप्रमेय होने के कारण वह बौद्धिक ज्ञान और तार्किक अभिव्यक्ति का विषय नहीं बन सकता, सभी प्रमाणों की सीमा वहाँ समाप्त हो जाती है। परन्तु, परम तत्त्व (ब्रह्म) को जानने का प्रयास हो सकता है। श्रुति–प्रमाण या आगमन से उसकी सत्ता सिद्ध है।

श्री रामकृष्ण देव तत्त्व के विषय में किसी वाद या सिद्धान्त का सदा विरोध करते थे। वे इस विषय में सदा व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाते थे। उनका कहना था कि यदि घड़े का पानी मेरी प्यास बुझा देता है तो नदी या झील के पानी की थाह लेने का क्या अर्थ है?[1] पुनः वे कहते थे कि तत्त्व तो एक हीं है, पर लोग उसे भिन्न रूपों में देखते हैं।[2] उनके अनुसार तत्त्व एक गिरगिट की तरह है जो भिन्न–भिन्न मनुष्यों को

And what makes the waves different? Only the from, and that from is time, space and causation, all entirely dependent on the wave "
-Swami Vivekananda, complete works, Vol II, p 135

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश, ब्रह्मानन्द, पृ. 39

[2] वही, पृ0 39

भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखाई देता है। जिस व्यक्ति को गिरगिट का सम्यक् ज्ञान नहीं है वह उनके भिन्न-भिन्न रूपों को भिन्न-भिन्न वस्तुओं के रूप में ग्रहण करेगा। पर जिन्हें गिरगिट के लाल, हरे, पीले इत्यादि सभी रूपों का ज्ञान है, वह इन रूपों के विरोध की अपेक्षा सामंजस्य को विशेष महत्त्व देगा।

श्री रामकृष्ण देव के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र तत्त्व है। वह अपौरुषेय निरपेक्ष तत्त्व है। वह उसी प्रकार अनिर्वचनीय और अवर्णनीय है, जिस प्रकार कि उस व्यक्ति के लिए समुद्र अवर्णनीय है जिसने समुद्र को कभी नहीं देखा है।[1]

माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार **"नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानधनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणचिन्त्यम- व्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपन्चोपशमं शानतं शिवमद्वैतं चतुर्थमन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।"** सत् के इस निरपेक्ष और अद्वैत स्वरूप का प्रतिपादन स्वामी विवेकानन्द भी करते हैं। उनके अनुसार सत् एक निरपेक्ष तत्त्व है। इन्होंने सत् के इस एकत्व-स्वरूप पर इतना जोर दिया है कि वे यह भी कहते हैं कि सत् 'एक' अवश्य है, किन्तु उसे 'सम्पूर्णता' कहना उपयुक्त नहीं है। सम्पूर्णता की अवधारणा में ही यह निहित है कि उसके अवयव हैं, अंश हैं। सम्पूर्णता उन अवयवों का संगठित रूप है। अत. यदि सत् को 'सम्पूर्णता' कहा जाए तो सत् भी अवयव बन जाता है, उसके भी अंश हो जाते हैं। विवेकानन्द कहते हैं की असीम अविभाज्य है, असीम के अवयव

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश, मलापुर मठ, मद्रास, सन् 1960, पृ0 261।

या अंश नहीं होते। निरपेक्ष सत् का विभाजन नहीं हो सकता।[1] निरपेक्ष सत् पूर्ण इकाई है। अतः सत् में सम्पूर्णता एवं अवयवों का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः निरपेक्ष–सत् की अवधारणा अमूर्त विचार की अन्तिम सीमा है। यही कारण है कि निरपेक्ष सत् अनिवार्यतः तथा अद्वैत रूप में एक है।

विवेकानन्द के अनुसार यह ब्रह्म स्थान, काल, कारणता आदि से परे है। अतः उसमें परिवर्तन की अवधारणा का आरोपण भी नहीं हो सकता, इस अर्थ में वह 'अपरिवर्तनशील' है। उसे 'अपरिवर्तनशील' कहने का यह अर्थ नहीं कि वह काल के सभी क्षणों में एक जैसा ही रहता है। इसका अर्थ यह है कि सत् के सम्बन्ध में काल का प्रश्न उठाना अप्रासंगिक ही नहीं, सर्वथा अर्थहीन है। विवेकानन्द का कहना है कि इस प्रकार की सूक्ष्म वैचारिक विवेचना की आवश्यकता ब्रह्म तथा ईश्वर को समझने के हमारे सीमित ढंगों के कारण उत्पन्न होती है। वस्तुतः ईश्वर, आत्मा, जगत् आदि को हम भिन्न–भिन्न रूप में अलग–अलग देखते भी नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि हमें इनकी अलग–अलग अनुभूति होती हो और तब हम इन्हें एक दूसरे के साथ सम्बन्धित करने का प्रयास करते हैं। वस्तुतः हमारी अनुभूति में इनकी भिन्नता की अनुभूति नहीं होती, सब एक हीं प्रकार की अनुभूति है। वह तो हमारे भाषीय–अभिव्यक्ति के ढंग, विशेषतः आलंकारिक एवं उपमाजन्य भाषीय प्रयोगों के ढंग हैं जिनसे इनकी विभिन्नताओं की भ्रान्ति उत्पन्न होती है।[2]

[1] वे कहते हैं, " The infinite is indivisible, there cannot be parts of the Infinite The absolute cannot be divided " -Complete Works, Vol III, p 7

[2] वे कहते हैं, 'God is neither outside nature nor inside nature, but God and Nature and soul and universe are all convertible terms you never

इसी कारण विवेकानन्द निरपेक्ष सत् को 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। उनका कहना है कि निरपेक्ष सत् में गुणों या लक्षणों का आरोपण उपयुक्त नहीं है। निरपेक्ष सत् में गुणों का आरोपण करने का अर्थ है कि हम दावा कर रहे हैं कि हम निरपेक्ष सत् को जान सकते हैं और यह कहना कि 'निरपेक्ष सत् को जाना जा सकता है' एक प्रकार से आत्मव्याघात है। निरपेक्ष सत् पूर्णतया अज्ञेय है, इसमें 'स्वगत भेदों' के लिए भी स्थान नहीं है।

विवेकानन्द का कहना है कि 'ऐसे निरपेक्ष–सत् के वर्णन का प्रयास होता रहा है, यद्यपि कोई भी वर्णन उसका पूर्ण वर्णन या पूर्णतया यथार्थ विवरण नहीं होता। विवेकानन्द के अनुसार निरपेक्ष–सत् को 'सत्–चित्–आनन्द' कहकर समझाने का प्रयास किया जाता है। 'सत्' तथा चित् की अवधारणायें यहाँ भी प्रायः अद्वैत वेदान्त की उनकी अवधारणाओं के समान हीं है, किन्तु 'आनन्द' की अवधारणा को उन्होनें बड़ा समृद्ध बना दिया है। विवेकानन्द ने 'आनन्द' के मूल में प्रेम को रखा है, तथा बार–बार कहते हैं कि प्रेम में ही आनन्द है।

2 (i)– निरपेक्ष सत् को समझने की दृष्टि –

विवेकानन्द का कहना है कि निरपेक्ष, अवैधानिक सत् को समझने की एक वैचारिक दृष्टि यह भी है कि उसे जगत् का स्रष्टा, शासक तथा जगत् के पूर्ण कारक के रूप में देखा जाता है। ऐसे जगत्–स्रष्टा को परम–शुभ तथा प्रेमरूप भी माना जाता है तथा यह समझा जाता है कि प्रेमपूर्ण होने के कारण वह जगत् पर सदा कृपा रखता है। इस प्रकार हम

see two things It is your metaphorical works that delude you " - Complete works, Vol III, p 421

देखते हैं कि सत् के अनिर्वचनीय, निर्गुण रूप के साथ, उसी में निहित एक वैयक्तिक ईश्वर के लिए भी स्थान बन जाता है।

विवेकानन्द कहते हैं कि शंकर ने यह समझा था कि शुद्ध अनिर्वचनीय ब्रह्म की अवधारणा पारमार्थिक दृष्टि से भले ही उपयुक्त हो, व्यवहार में यह साधारण मन की धार्मिक–प्रवृत्तियों एवं आकांक्षाओं को सन्तुष्ट नहीं कर पाती। इसी कारण शंकर ने अपने दर्शन में 'ईश्वर' के लिए भी स्थान बनाया तथा व्यावहारिक दृष्टि से इसकी यथार्थता एवं उपयोगिता पर बल दिया। किन्तु, उन्होंने ब्रह्म के अद्वैत रूप की तार्किकता को खण्डित नही होने दिया तथा इसके लिए ईश्वर को 'पारमार्थिक सत्ता' नहीं दी। 'ईश्वर' भी अविद्या तथा माया के स्तर तक ही यथार्थ रहा। पारमार्थिक स्तर पर 'ब्रह्म' का स्वरूप 'ईश्वर' से खण्डित नहीं होता। किन्तु इस स्तर पर स्वामी जी का शंकर से किंचित मतभेद दिखलाई पड़ता है। वे यह नहीं स्वीकारते कि 'ब्रह्म' माया तथा अविद्या के साथ जुड़ा है। वे यह नहीं स्वीकार करते हैं कि 'ब्रह्म' तथा 'ईश्वर' दो हैं। उनका कहना है कि बुद्धि के द्वारा सत् जो है, उस पर विचार भिन्न–भिन्न दृष्टियों से किया जाता है। उसी सत् को जब एक दृष्टि से देखते हैं, तो वह 'ईश्वर' है तथा यदि देखने का ढंग परिवर्तित हो जाए तो वही सत् 'ब्रह्म' प्रतीत होता है। अतः विवेकानन्द के अनुसार यह भेद पारमार्थिक दृष्टि से है ही नहीं, यह दृष्टि–भेद है। इस प्रकार उनके अनुसार ईश्वर को अन्ततः अयथार्थ कहने की आवश्यकता ही नहीं, वही सत् तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म है और उस सत् को जब हम धार्मिक दृष्टि से देखते हैं, तो वह ईश्वर है। अतः विवेकानन्द का कहना है कि जो परम सत् है, वही हमारी भावना, आराधना, भक्ति का विषय भी है।

अन्ततः विवेकानन्द आलंकारिक भाषा में कहते हैं कि परमात्मा

सबसे बड़ा कवि है, जिसकी कविता यह सृष्टि है। वह अपनी कविता के पद्यों और लयों को अपने अनन्त आनन्द में लिखता है।[1] तात्पर्य यह है कि परमात्मा ही जगत् का रचयिता है और जगत् उसकी रचना है। अद्वैत वेदान्ती होने के कारण स्वामी विवेकानन्द परमात्मा को जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनों मानते हैं। परमात्मा अपनी लीला (इच्छा) से ही जगत् की सृष्टि करता है। सम्पूर्ण जगत् उसकी लीला है। श्रुतियों में जगत् को परमात्मा की लीला स्वीकार किया गया है। परमात्मा अपनी लीला या क्रीड़ा के लिए ही सृष्टि करता है। क्रीडा या खेल का कोई कारण नहीं हो सकता। परमात्मा की क्रीड़ा में कोई अभाव नहीं, वरन् उसका स्वभाव ही कारण है। उसका स्वभाव ही आनन्द है। अतः आनन्द के लिए वह सृष्टि करता है, खेल खेलता है। जिस प्रकार कोई स्वान्तः सुखाय किसी कविता की रचना करता है, उसी प्रकार ईश्वर भी अपने आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए संसार को उत्पन्न करता है।

2 (ii)– निरपेक्ष सत् एवं माया –

आचार्य शंकर कहते हैं कि प्रकृति इस माया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह त्रिगुणात्मिका माया सम्पूर्ण संसार की बीज है।[2] वह समस्त इन्द्रियानुभाविक विश्व का कारण है। वही सब शरीरों और इन्द्रियों की रचना करती है। उसी से सोलह कार्य और सात कार्य–करण उत्पन्न होते

[1] I never read of anymore beautiful conception of God then the following. He is the great poet, the ancient poet, the whole universe is his Poem coming in verses, rhymes and rythms with in infinite bliss - Swami Vivekananda Janana Yoga, p 148
[2] शां० भा० गीता, 7 4, 13 19, 13 29

हैं।[1] तीन गुणों वाली माया ईश्वर की अपनी शक्ति है और वही संसार की सब वस्तुओं का मूल स्रोत है।[2]

सांख्य की प्रकृति एक स्वतंत्र तत्त्व है। वह अपने आप में अपने द्वारा ही स्थित है। वह उस पुरुष के समान ही सत् है जिसका उद्देश्य पूरा करने के लिए उसका अस्तित्व है। इसके विपरीत शंकर की माया ब्रह्म पर निर्भर रहने वाली मानी गई है। अद्वैत वेदान्त में माया को ब्रह्म की उपाधि स्वीकार किया गया है। इस उपाधि से संयुक्त होकर निर्गुण निराकार ब्रह्म, सगुण साकार ईश्वर तथा जीव जगत् के रूप में प्रतीत होता है। अतः शंकर ईश्वर, जीव जगत् को ब्रह्म की मायिक अभिव्यक्तियाँ स्वीकार करते हैं। यह ईश्वर पर पूर्णतया निर्भर और उससे अभिन्न है। इसलिए उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिस प्रकार शक्ति शक्तिमान से अभिन्न होती है वैसे ही माया ईश्वर की शक्ति होने के कारण उनसे अभिन्न है।[3] वास्तव में शंकर के ब्रह्मवाद में जिस किसी वस्तु का अस्तित्व है वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है किन्तु अभिन्नता से शंकर का तात्पर्य तादात्म्य नहीं है। श्री वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि शंकर के लिए अभिन्नता का अर्थ भिन्नता को स्वीकार करना मात्र है। इसका अर्थ तादात्म्य स्वीकार करना नहीं है।[4] आचार्य शंकर के मतानुसार माया ईश्वर की वह आश्चर्यजनक रचनात्मक संकल्पशक्ति है जिसमें असीम कारण–कार्य शक्यता है। आचार्य शंकर ने विशेष रूप से यही दिखाने का प्रयत्न किया है कि इस विश्व की उत्पत्ति आदि का कारण मायोपहित ईश्वर ही है। आचार्य शंकर का विचार है कि यह विश्व नामरूपों द्वारा

[1] वही, पृ० 13.20

[2] वही, पृ०14.3

[3] शां० भा० गीता, 14.4 (सा शक्तिः ब्रह्म एव शक्ति शक्तिमतो अनन्यत्वात्।)

[4] भामती, 2.1.14; शां० भा० ब्रह्मसूत्र, 1.24।

विभाजित है, जहाँ जीवों को निश्चित कारण से निश्चित स्थान और समय पर अपने कर्मों का फलभोग प्राप्त होता रहता है। इसकी व्यवस्था मन से भी अचिन्त्यनीय है। ऐसे संसार की उत्पत्ति सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार नहीं हो सकती।[1] ईश्वर की इस जड़–चेतन सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण है। वह अपने चैतन्य की प्रधानता से सृष्टि का निमित्त कारण तथा अपनी उपाधि की प्रधानता से सृष्टि का उपादान कारण है। इस सन्दर्भ में श्रुति लूतातन्तु का उदाहरण देती है। जिस तरह मकड़ी अपने चैतन्य की दृष्टि से जाले का निमित्त कारण है तथा शरीर की प्रधानता से जाले का उपादान कारण भी है।

श्री रामकृष्ण देव भी कहते हैं ब्रह्म और माया के बीच वही सम्बन्ध है जो स्थिर सर्प और गतिशील सर्प के बीच होता है। गति रूप शक्ति माया है और स्थिति रूप शक्ति ब्रह्म है।[2] **जब परमसत् क्रियारहित अवस्था में होता है तो उसे 'ब्रह्म' कहा जाता है और वही ब्रह्म जब सृष्टि, स्थिति और प्रलय के सन्दर्भ में देखा जाता है तो उसे 'ईश्वर' कहा जाता है।** ब्रह्म और माया में शक्तिमान की दृष्टि से अभेद्य सम्बन्ध है, **निष्क्रिय ब्रह्म और सक्रिय माया वास्तव में एक ही हैं।** जो सत्–चित्–आनन्द रूप ब्रह्म है वही सत्ता सर्वज्ञ, आनन्दमयी, जगत्–जननी शक्ति है। श्री रामकृष्ण देव परम–तत्व एवं उसकी शक्ति में अभेद सम्बन्ध पर बल देते हुए कहते हैं कि **"ब्रह्म और शक्ति में अभेद है,** एक को मानिए तो दूसरे को मानना ही पड़ता है, जैसे अग्नि और उसकी दाहिका–शक्ति होती है। सूर्य को पृथक् कर किरणों की कल्पना नही की जा सकती और न सूर्य के विषय में किरणों को छोड़कर ही सोचा जा सकता है। दुग्ध और उसकी धवलता में तादात्म्य सम्बन्ध है। अतः ब्रह्म

[1] शां0 भा0 ब्रह्मसूत्र, 1.1.21

[2] श्री रामकृष्ण उपदेश, मलापुर मठ, मद्रास, सन् 1969, पृ0 261।

को छोड़कर शक्ति के विषय में विचार नहीं किया जा सकता और न हीं शक्ति को छोड़कर ब्रह्म के विषय में विचार हो सकता है।[1] शक्ति के बिना शिव उसी प्रकार सृष्टि रचना करने में असमर्थ है जिस प्रकार कुम्भकार बिना जल के मृत्तिका मात्र से पात्र का निर्माण करने में।[2]

परम–तत्व एवं शक्ति में अभेद सम्बन्ध को स्वीकार करने के कारण श्री रामकृष्ण वल्लभ–वेदान्त के अधिक समीप हैं परन्तु, साथ हीं तत्व एवं शक्ति में अपार्थक्य को स्वीकार करने के कारण उनके विचार श्रीरामानुज से भी मिलते–जुलते हैं। रामानुज के अनुसार भी निर्विशेष वस्तु की सिद्धि न तो अनुभव से ही हो सकती है और न प्रमाणों से ही। पदार्थ का समुचित स्वरूप ही सब प्रमाणों एवं अनुभवों का विषय है। यह आनुभाविक एवं प्रामाणिक निष्कर्ष ब्रह्म के सविशेष स्वरूप को मानने के लिए विवश करता है। पदार्थ एवं शक्ति में श्री रामकृष्ण ने अभेद सम्बन्ध माना है।

श्री रामकृष्ण देव कहते हैं कि ब्रह्म और माया में वही सम्बन्ध है जो शान्त समुद्र और क्षुब्ध समुद्र के बीच होता है। जिस प्रकार कोई कुम्हार सूखी मिट्‌टी द्वारा किसी घड़े का निर्माण नहीं कर सकता, उसके लिए जल की आवश्यकता होती है,ठीक उसी प्रकार शिव (ब्रह्म), शक्ति (माया) के बिना सृष्टि कार्य नहीं कर सकते।[3]

जहाँ कहीं प्रक्रिया अर्थात्–सृष्टि, स्थिति और प्रलय होता है, वहाँ माया या शक्ति का वास होता है। जल, जल ही रहेगा चाहे वह शान्त हो या क्षुब्ध। सत्–चित–आनन्द निरपेक्ष ब्रह्म की माया से उपहित होकर ईश्वर

[1] रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग) पृ0 122।

[2] टीचिंग्स ऑफ रामकृष्ण परमहंस, पृ0 4–5।

[3] श्री रामकृष्ण उपदेश, अध्याय 2, पृ0 39।

पदवाच्यता को ग्रहण करता है और जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय को निष्पन्न करता है। जिस प्रकार 'कैप्टेन'[1] वही रहेंगे चाहे वे निष्क्रिय होकर अपने निवास में बैठे रहें या मन्दिर में जाकर आराधना करें अथवा किसी कार्य से गवर्नर-जनरल से मिलें, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म, ब्रह्म ही रहेगा चाहे वह सच्चिदानन्द रूप में निष्क्रिय रहे अथवा ईश्वर रूप में सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कार्य करे ।

श्री रामकृष्ण देव माया की उपमा बादलों से और ब्रह्म की उपमा स्वच्छ आकाश से देते हैं। कभी-कभी ब्रह्म की उपमा सूर्य से भी दी गई है। जिस प्रकार इतना बड़ा सूर्य पृथ्वी को प्रकाशित किये रहता है, किन्तु साधारण बादल के छोटे-छोटे टुकड़ों के आते ही दिखलाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार सर्वव्यापी और प्रकाशस्वरूप सच्चिदानन्द को हम माया के आवरण के कारण नहीं देख पाते।[2] सदानन्दयोगीन्द्र के वेदान्तसार में आवरण शक्ति का विवेचन उपमा के माध्यम से इस प्रकार मिलता है-

''घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढ़ः।

तथा बद्धवद्भाति यो मूढ़दृष्टेः स नित्योपलिब्धिवस्वरूपोऽहमात्मा।।''

अर्थात् जिस प्रकार अत्यन्त मूढ़ पुरूष बादल से अपनी दृष्टि के ढ़ँक जाने पर सूर्य को बादल से ढ़ँका हुआ और प्रभारहित मानता है उसी प्रकार, मूढ़ पुरूष की दृष्टि से, जो आत्मा बन्धन में पड़ा हुआ संसारी जैसा प्रतीत होता है, वह नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ।[3] श्री रामकृष्ण देव श्रीराम, जानकी और लक्ष्मण का उदाहरण देते हैं। जीवात्मा और परमात्मा

[1] कलकत्ता स्थित नेपाल सरकार के प्रतिनिधि श्री विश्वनाथ उपाध्याय को श्री रामकृष्ण देव 'कैप्टेन' कहकर पुकारते थे।

[2] श्री रामकृष्ण उपदेश - स्वामी ब्रह्मानन्द, पृ0 121

[3] वेदान्तसार पृ0 91 ।

के बीच माया का परदा है। इस परदे के कारण दोनों में परस्पर भेंट नहीं हो सकती। जैसे आगे–आगे श्रीराम बीच में जानकी और पीछे–पीछे लक्ष्मण जा रहे हैं। यहाँ श्रीराम परमात्मा हैं और लक्ष्मण जीवात्मा। बीच में जानकी ही माया रूपी आवरण हैं। जब तक जानकी बीच में हैं, तब तक लक्ष्मण श्रीरामचन्द जी को नहीं देख सकते। यदि जानकी थोडा हट जायें तो लक्ष्मण को श्रीराम के दर्शन हो जायें। ठीक इसी प्रकार यदि जीवात्मा परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहता है तो उसे माया से निवृत्त होना पड़ेगा।[1]

माया की अवास्ताविकता को दर्शाने के लिए श्री रामकृष्ण देव 'दीपाधार त्रिपार्श्व' का उदाहरण दिये हैं जिसमें लाल, पीले और नीले रंग की किरणें विकीर्ण होती हैं। जिस प्रकार प्रिज्म या त्रि पार्श्व से निकलने वाले सभी रंग श्वेत वर्ण की ही अभिव्यक्ति हैं, ठीक इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् भी ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। केवल ब्रह्म की एकमात्र सत्ता है।[2]

माया ही वह "प्रिज्म" या माध्यम है जिसके द्वारा अद्वय ब्रह्म वैविध्यपूर्ण सृष्टि के रूप में भासित होता है। **श्री रामकृष्ण के अनुसार माया दो प्रकार की होती है–'विद्या' और 'अविद्या'।** विद्या मनुष्य को ईश्वर के पास ले जाती है, पर अविद्या उसे ईश्वर से बहुत दूर फेंक देती है। ज्ञान, भक्ति, वैरागी, अनुकम्पा–ये सभी विद्या माया के अभिन्न रूप हैं, जिनकी सहायता से मनुष्य ईश्वर के समीप पहुँच सकता है।[3] माया ही ब्रह्म को प्रकाशित करती है। जिस प्रकार शक्ति के द्वारा हीं शक्तिमान को जाना जा सकता है, उसी प्रकार माया के द्वारा ही ब्रह्म को जाना जा सकता है। विद्या के माध्यम से ही मनुष्य परम ज्ञान को प्राप्त कर सकते

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश, पृ0 11 ।
[2] श्री रामकृष्ण उपदेश, पृ0 41 ।
[3] वही, पृ0 42 ।

हैं। माया ही द्वैत को उत्पन्न करती है। माया के बिना भोक्ता,भोग्य और भोग की कल्पना नहीं की जा सकती। किन्तु यह भी सत्य है कि विद्या के द्वारा ही द्वैत के मिथ्यात्व का भी ज्ञान होता है, तथा व्यक्ति मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ता है। इस प्रकार माया की द्विविध भूमिका है।

2 (iii) निरपेक्ष सत् के भेद –

उपनिषदीय वाक्यों पर विचार करके शंकर ने यह भेद स्थापित किया कि एक तो ब्रह्म वह है जैसा कुछ अपने आप में है और दूसरा जिसे हम अपने अनुभव जगत् से सम्बद्ध मानकर समझने का प्रयत्न करते हैं। पहले को वे निर्गुण, निर्विशेष या 'बह्म' कहते हैं और दूसरे को सगुण, सविशेष और 'अपर ब्रह्म' कहते हैं। उनके अनुसार निर्गुण ब्रह्म **सत्**[1], **परमार्थ सत्य**[2], **परमार्थ तत्व**[3] और **भूमा**[4] आदि भी कहलाता है। वह निर्विशेष होने के कारण **अवर्णनीय** है।[5] परिभाषा में जाति का विभाजन कर विशेष का निरूपण करना आवश्यक है, किन्तु ब्रह्म न किसी जाति में आता हैं और न वह किसी विशेष की गणना में आता है।[6] अतः वह निर्गुण है, गुणों की सीमित परिधि में बाँधने वाला नहीं है। निर्गुण का तात्पर्य गुण शून्य नहीं वरन् गुणातीत है क्योंकि प्रत्येक निर्वचन उसके सम्बन्ध में कुछ निषेध करता है किन्तु, वह ब्रह्म तो समस्त विधि निषेधों से अतीत है। स्वयं विधि और निषेध उसी से सत्ता ग्रहण करते हैं। अतः स्वयं उसी को सीमित नहीं कर सकते।

[1] शां० भा० गीता, 2.17 (ऐतरेय ब्राह्मणा .)।
[2] शां० भा०, तैत्तिरीय, 2.6 (परमार्थ सत्यं ब्रह्म)।
[3] शां० भा०, गीता 2.59 (परमार्थ तत्त्वं ब्रह्म)
[4] शां० भा० छान्दोग्य, 7 23 (भूमा महन्निरतिशयं),
शां० भा० केन, 1.5 (ब्रह्म निरतिशयं भूमाख्य)।
[5] शां० भा० ब्रह्मसूत्र, 4.3 14, 3.2 16, 3.2 11 (समस्त विशेषरहितं)
[6] शां० भा० माण्डूक्य, 1.7 शां० भा० केन, 1.3।

श्री रामकृष्ण देव ने अनेक बार शांकरसम्मत ब्रह्म के निर्गुण एवं वैष्णवाचार्यों द्वारा स्वीकृत सगुण रूप में समन्वय किया है– "वेदों ने जिसे ब्रह्म कहा है उसी को मै माँ कहकर पुकारता हूँ। जो निर्गुण है वही सगुण है, जो ब्रह्म है वही शक्ति है। जब यह बोध होता है कि वह निष्क्रिय है तब मैं उसे ब्रह्म कहता हूँ और जब यह सोचता हूँ कि वह सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कर्ता है तब उसे आद्या–शक्ति काली कहता हूँ।[1]" सुगण और निर्गुण दोनों का ही सम्यक् अवबोध श्री रामकृष्ण देव को था। उनकी सगुण उपासना माँ काली की उपासना थी एवं निर्गुणोपासना उनके वेदान्ती गुरू तोतापुरी ने उन्हें करवाया था।[2] जिस प्रकार एक व्यक्ति एक समय वस्त्रधारी रूप में और दूसरे समय निर्वस्त्र रूप में रहता है। उसी प्रकार एक ही ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में स्थित होता है।[3] शक्तिसहित ब्रह्म–सगुण ब्रह्म और शक्तिरहित ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म हैं।[4] इसी तथ्य को कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हुए श्री रामकृष्ण देव ने कहा– " एक ही ब्राह्मण पूजा करते समय पुजारी और भोजन बनाते समय पाचक होता है।"[5] सर्प जब कुण्डली युक्त है तब भी सर्प है और जब तिर्यक गति से संसरण करता हो तब भी सर्प ही है।[6] इसी प्रकार ब्रह्म सृष्ट्युत्पत्यादि कर्म करता है तब वह शक्तिरूप है, जब निष्क्रिय रहता है तब निर्गुण एवं निरंकार है, जिसे ज्ञानी ब्रह्म कहते हैं। उसी को योगी परमात्मा कहते हैं और उसी को भक्त भगवान कहते हैं।[7] वस्तु एक ही है केवल नाम–भेद

[1] रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृ0 68।
[2] रामकृष्ण लीलाप्रसंग, प्रथम खण्ड, पृ0 272।
[3] रामकृष्ण उपदेश, अं0 अनुवाद पृ0 267।
[4] वही, पृ0 267।
[5] वही, पृ0 121।
[6] वही (प्रथम भाग), पृ0 53
[7] रामकृष्ण उपदेश (अं0 अनु0), पृ0 121।

है, जो ब्रह्म है वही भगवान है, वही आत्मा है। श्री रामकृष्ण देव कबीर के समान निर्गुण ब्रह्म को पिता और सगुण ब्रह्म को माता कहकर[1] उभयविधि धारणाओं का प्रयास करते हैं।

ब्रह्म की उभयविधि धारणाओं के प्रति श्री रामकृष्ण देव की समन्वयवादी प्रवृत्ति होते हुए भी उनके वचनामृतों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन्हें परम–तत्त्व की सगुण धारणा ही अधिक प्रिय थी । परम–तत्त्व को शक्ति अथवा गुणों से रहित मानने की सिद्धांत को वे उसी प्रकार असंगत मानते हैं, जिस प्रकार सूर्य से पृथक्करणीयता की कल्पना। वे परम–तत्त्व एवं उसकी शक्ति के अभेद सम्बन्ध पर बल देते हैं।

वेदांत के रहस्य का ठीक–ठीक उद्घाटन न कर सकने के कारण ब्रह्म- समाजी नेताओं ने ब्रह्म की साकारता का निरसन किया। श्री रामकृष्णदेव ने इस मान्यता का उसी रूप में पुनः स्थापन करते हुए कहा कि ''वह श्रीकृष्ण के समान मनुष्य रूप धारण कर आता है एवं अनेक रूपों में भक्तों को दर्शन देता है। यह भी सत्य है और वह निराकार अखण्ड और सच्चिदानन्द है, यह कथन भी सत्य है। वेदों ने उसको साकार भी कहा है और निराकार भी, सगुण भी और निर्गुण भी।''[2] सच्चिदानन्द मानो एक अनन्त समुद्र है ठंड़क के कारण समुद्र का पानी बर्फ बनकर तैरा करता है, पानी पर बर्फ के कितने हीं आकार के टुकड़े तैरते हैं, वैसे ही भक्ति के प्रभाव से सच्चिदानन्द सागर में साकार मूर्ति के दर्शन होते हैं, वे भक्त के लिए साकार होते हैं। फिर जब ज्ञान–सूर्य का उदय होता है तब बर्फ गल जाती है और पहले का पानी ज्यों–का–त्यों रह जाता है।[3] वस्तुतः परमात्मा तत्व अनेक स्वरूप युक्त है

[1] रामकृष्ण उपदेश, अं0 अनुवाद पृ0 310।

[2] रामकृष्णवचनामृत, (प्रथम भाग), पृ0 58।

[3] रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृष्ठ 228।

जो उसकी जिस रूप में उपासना करता है, वह उसे उसी रूप में प्राप्त करता है। अतः उसके स्वरूप को ''इदमित्थम्' कहकर निश्चित करना असंभव है। उसके विविध-रूप उस कृकलास (गिरगिट) के समान हैं जिसको बहुत से मनुष्यों ने देखा तो था परन्तु, देखा एक ही बार। उनमें कोई गिरगिट को पीला, कोई काला, कोई हरा और आसमानी रंग का बतलाता था। भ्रम-निवारण तब हुआ जब एक व्यक्ति जिसने गिरगिट को अनेक बार देखा था- आकर बोला कि सबके अपने-अपने कथन सत्य भी हैं, और असत्य भी। गिरगिट उन सब वर्णों से युक्त है, जिनका वर्णन उन सब व्यक्तियों ने किया है, परन्तु वह और वह भी अनेक वर्णों से युक्त है।[1] इसी प्रकार ईश्वर भी विभिन्न स्वरूपों से युक्त है और उसके वे विविध रूप-भाव भेद से ही व्यक्त होते हैं। जैसे एक ही खाद्य वस्तु नाना प्रकार के रसों और मसालों के साथ पकायी जाकर विविध प्रकार के स्वादों से युक्त होती है, उसी प्रकार भगवान एक ही है परन्तु साधकगण विभिन्न भावों से उनकी उपासना करते हैं।[2]

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि जब हम देश-काल निमित्त रूपी शीशे के माध्यम से ब्रह्म की ओर देखने का प्रयत्न करते हैं तभी वह जगत् से सम्बद्ध प्रतीत होता है, तभी वह सगुण प्रतीत होता है,[3] जबकि वास्तविकता यह है कि जहाँ पर बह्म है वहाँ देश-काल आदि निमित्त होते

[1] रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृष्ठ 138-9।

[2] परमहंस चरित, पृष्ठ 66।

[3] The absolute has become the universe by coming through time, space and causation-Complete Works of Swami Vivekananda, Vol II, p 129.

ही नहीं है।[1] देश–कालादि से युक्त रहने पर ब्रह्म कदापि असीम और अनन्त नहीं रह सकता। वह सापेक्ष तथा सविशेष हो जाएगा क्योंकि सत्य वही है जो देश–कालादि से परे हो।[2] इसके अतिरिक्त जिन देश,काल और निमित्त से हम ब्रह्म को 'सविशेष' और 'सम्बद्ध' स्वीकार करते हैं, उन देश–कालादि का भी अस्तित्व नहीं है। तीनों की ही धारणा सापेक्ष है। काल मन के अधीन है। इसी प्रकार देश की भी निरपेक्ष एवं शुद्ध रूप से कल्पना नहीं की जा सकती, कार्य–कारण–भाव भी देश एवं काल के अधीन होने से सापेक्ष हैं, अतः सापेक्ष होने के कारण देश–काल सत् नहीं हैं।[3] ब्रह्म को असत् से सीमित नहीं किया जा सकता। काल मन के अधीन है[4] और ईश्वर मन से युक्त नहीं है, अतः काल से भी परे है। देश से वही वस्तु सम्बद्ध हो सकती है जो साकार हो। ईश्वर निराकार है अतःदेश से भी सम्बद्ध नहीं हो सकता।[5] कार्य–भाव काल और देश के आश्रित हैं। जब ईश्वर देश और काल से असंपृक्त है तो वह कार्य –कारण भाव से भी असम्बद्ध है ।

जब हम पूछते हैं "ब्रह्म पर किस कारण ने कार्य किया?" तो हम कितनी बड़ी भूल करते हैं। यह प्रश्न करने का अर्थ है कि ब्रह्म भी अन्य किसी के अधीन है– वह निरपेक्ष ब्रह्म सत्ता भी किसी अन्य के द्वारा बद्ध है। अर्थात् ब्रह्म अथवा निरपेक्ष 'सत्ता' शब्द को हम जगत् के समान

[1] The idea of time cannot be there - the idea of space cannot be there, seeing that there is no external change What you call motion and causation can not exist where there is only one, Ibid - Vol II, p 30

[2] That which is beyond time, space and causation that is perfect, Vol III. p 13

[3] Complete works of swami Vivekananda, Vol II, p 135-36

[4] Ibid, Vol. II, p 78

[5] Complete Works of Swami Vivekananda, Vol, II, p 225

समझते हैं– हम उसे जगत् के स्तर पर नीचे खींच लाते हैं। ब्रह्म में देश–काल और निमित्त है हीं नहीं, क्योंकि वह एकमेवाद्वितीय नहीं हो सकता। अपनी सत्ता का जो स्वयं ही आधार है, उसका कोई कारण नही हो सकता। जो मुक्त–स्वभाव है, स्वतंत्र है, उसका कोई कारण नही हो सकता अन्यथा वह मुक्त नहीं रहेगा, बद्ध हो जायेगा। जिसमे सापेक्ष भाव है वह कभी मुक्त स्वभाव नही हो सकता।[1]

आचार्य शंकर की भांति ही स्वामी जी के अनुसार भी सगुण ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष नहीं,वरन् सगुण और सविशेष है। इसे हीं परम पिता, परमात्मा, ईश्वर भगवान् आदि कहते हैं।[2] सगुण ब्रह्म के श्रुतिसम्मत दो लक्षणों को स्वामी जी भी स्वीकार करते हैं– **'स्वरूप लक्षण'** और **'तटस्थ लक्षण'।** ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है –'सच्चिदानन्द' अर्थात् ब्रह्म सत् है, चित् है, और आनन्दस्वरूप है। दूसरे ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। जिसके द्वारा सभी जीव उत्पन्न होते हैं (**"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"**) आदि । इस लक्षण से ब्रह्म सृष्टि का कर्ता, धर्ता और संहर्ता सिद्ध होता है । सृष्टिकर्ता ब्रह्म को हीं स्रष्टा, ईश्वर और भगवान् कहते हैं। स्वामी विवेकानन्द ईश्वर को भी पूर्णतः सत् स्वीकार करते हैं। परन्तु, ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने में विवेकानन्द का तर्क अद्वैत परम्परा से कुछ भिन्न है।

स्वामी जी कहते हैं कि "जब तक हमारा शरीर है, जब तक हम इस शरीर को आत्मा समझे बैठे हैं और जब तक हम स्थूल जगत् की ओर दृष्टि किए हुए हैं तब तक हमें सगुण ईश्वर को स्वीकार करना ही

[1] विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 2, पृ0 87।

[2] श्रुति के अनुसार 'येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्या संविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म।'

होगा। ऐसी अवस्था में ईश्वर को स्वीकार न करना निरा पागलपन है।"[1] इन शब्दों के साथ स्वामी विवेकानन्द भी आचार्य शंकर के समान सगुण ईश्वर की मान्यता का समर्थन करते हैं। संसार के अधिकांश व्यक्ति द्वैतवादी है। ऐसे व्यक्ति, जो साधारण बुद्धि के हैं, निर्गुण ब्रह्म की धारणा को ग्रहण करने में असमर्थ हैं।[2] जब निर्गुण ब्रह्म को हम माया के कुहरे में से देखते हैं, तो वही सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है। जब हम उसे पंचेन्द्रियों द्वारा पाने की चेष्टा करते हैं तो उसे हम सगुण ब्रह्म के रूप में ही देख सकते हैं। तात्पर्य यह है कि **आत्मा का विषयीकरण नहीं हो सकता, आत्मा को दृश्यमान वस्तु नहीं बनाया जा सकता।** ज्ञाता स्वयं अपना ज्ञेय कैसे हो सकता है? परन्तु, उसका प्रतिबिम्ब पड़ सकता है –चाहो तो, इसे उसका विषयीकरण कह सकते हो। इस प्रतिबिम्ब का सर्वोत्कृष्ट रूप, ज्ञाता को ज्ञेय रूप में लाने का महत्तम प्रयास– यही सगुण ब्रह्म या ईश्वर है।[3] अतः एक 'व्यक्ति' के रूप में ईश्वर की उपासना किए बिना मनुष्यों का काम नहीं चल सकता।[4]

अद्वैत वेदान्त के अनुयायी होने के कारण स्वामी विवेकानन्द ब्रह्म की निरपेक्ष, निर्विशेष एवं निर्गुण सत्ता को स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार आचार्य शंकर अपनी प्रबल युक्तियों से ब्रह्म के सविशेषत्व का निरसन करते हैं, उसी प्रकार स्वामी जी भी अनेक तर्क–प्रहारों से सगुण–ब्रह्म की धारणा का उच्छेदन कर निर्गुण–ब्रह्म की धारणा की स्थापना करते हैं। "सगुण–ब्रह्म के सब विशेषण निर्गुण–ब्रह्म के सम्बन्ध में अनावश्यक हैं, इसलिए त्याज्य हैं। निर्गुण और सर्वव्यापी ब्रह्म ज्ञानवान् नहीं कहा जा

[1] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 3, पृ0 28।

[2] वही, खण्ड 2, पृ0 24।

[3] विवेकानन्द साहित्य, तृतीय खण्ड, पृ0 258–59।

[4] विवेकानन्द साहित्य (तृतीय खण्ड), पृ0 387।

सकता, क्योंकि ज्ञान मन का धर्म है। वह सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता क्योंकि विचार ससीम का धर्म है। वह सृष्टिकर्त्ता भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जो बन्धनहीन है, मुक्त है, उसे कभी सृष्टि करने की इच्छा नही हो सकती।"[1] स्वामी जी इस विषय में यह युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि "एक ही समय में एक से अधिक वस्तुओं का अस्तित्व नहीं रह सकता। यदि ब्रह्म अनेक सद्गुणों से उपेत है और यदि ब्रह्म संसार के समस्त सद्गुणों की निधि है तो सापेक्षता के सिद्धान्त के अनुसार क्या बिना दोषों के गुणों का अस्तित्व सम्भव है? क्या बिना अन्धकार के प्रकाश का अस्तित्व सम्भव है?[2] यदि ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता, धर्ता और हर्ता है तो द्वैतवाद के अनुयायी जगत् के वैषम्य के विषय में क्या समाधान देंगे?[3] एक मनुष्य सुखी है तो दूसरा दुःखी, एक धनी है तो दूसरा निर्धन, एक का जीवन दूसरे की मृत्यु पर निर्भर करता है। यह प्रतिद्वन्दिता, निष्ठुरता, घोर अत्याचार और दिन-रात की आह जिसे सुनकर कलेजा फटा जाता है-इसका सगुण ईश्वरवादी क्या समाधान प्रस्तुत करेंगे?[4] यदि यही ईश्वर की सृष्टि है तो वह ईश्वर अत्यन्त निष्ठुर है।

ब्रह्म के ज्ञेयत्व के विषय में श्री रामकृष्ण देव ने वैष्णवाचार्यों से मिलते जुलते विचार प्रकट किए हैं ब्रह्म के विषय में वेद में कहा गया है **'अवाड्.मनसगोचरम'** इसका अर्थ यह है कि वह विषयासक्त मन के लिए अगोचर है । जैसे स्वच्छ दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है

[1] He cannot be called a knowing being because knowledge Only belongs to the human mind He cannot be called a creating, because none creates except in bondage - Complete Works of Swami Vivekananda, Vol III, p 128-9

[2] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड - 2, पृ0 241।

[3] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, पृ0 241-4।

[4] वही, खण्ड 3, पृ0 123-4।

वैसे ही चित्तशुद्धि के बाद ही ब्रह्म का दर्शन होता है।[1] ब्रह्म ज्ञेय अवश्य है परन्तु व्यपदेश्य नहीं है।[2] ब्रह्म के विषय में वाद–विवाद एवं विचार तभी तक है जब तक कि उसके दर्शन का अनुभव नहीं होता।" जब तक मधुमक्खी फूल पर नहीं बैठती है तभी तक वह गुंजार करती है, तालाब में घट के भर जाने के पहले ही आवाज होती है, भर जाने के बाद निस्तब्धता छा जाती है।[3] श्री रामकृष्ण बड़े सरल शब्दों में कहा करते थे कि "भोजन के निमन्त्रण पर आए व्यक्तियों में भोजन न आने तक ही वार्तालाप होता है, भोजन आ जाने पर सब शान्त हो जाते हैं। उसी प्रकार ईश्वर के साक्षात्कार के उपरान्त सब विचार शान्त हो जाते हैं।"[4] कोई भी हो, उसकी शक्ति कितनी ही अपार हो, परन्तु ब्रह्म उसके द्वारा अवर्णनीय नहीं। क्षुद्र चींटी चीनी के पहाड़ में से एक ही दाना ले जाने की सामर्थ्य रखती है।"[5]

वहीं दूसरी ओर आचार्य शंकर ने अगम्य होने के कारण ब्रह्म को इन्द्रियादि से अज्ञेय कहा है, ब्रह्म को विषयीकृत करने का इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नही है। ब्रह्म–स्वरूप होने एवं विषय–विषयी के भेद से रहित होने के कारण आत्मा स्वयं को उसी प्रकार नही जान सकता जिस प्रकार अग्नि स्वयं को जला नहीं सकती।[6] स्वामी जी भी सर्वत्र ब्रह्म की अज्ञेयता का प्रतिपादन करते हैं। ज्ञान का तात्पर्य किसी भी वस्तु को सीमित कर देने से है। जब कभी हम किसी वस्तु को जानना

[1] रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृ0 158।
[2] वही, पृ0 57।
[3] रामकृष्णवचनामृत (द्वितीय भाग), पृ0 136।
[4] रामकृष्णवचनामृत, (तृतीय भाग), पृ0 87।
[5] वही (प्रथम भाग), पृ0 58।
[6] शां0भा0 केन उपनिषद 1/3।

चाहते हैं तब वह मन के द्वारा सीमाबद्ध हो जाती है।[1] ज्ञान का तात्पर्य है वस्तु को बाहर लाकर विषय की भांति प्रत्यक्ष करना। परन्तु ईश्वर का बहिःप्रेक्षण असंभव है। आत्म-स्वरूप होने के कारण हम किसी प्रकार उस (आत्मा) का प्रक्षेप नहीं कर सकते।[2] जो सबका ज्ञाता है, जो सब ज्ञानों का आधार है उसे किस प्रकार जाना जा सकता है।[3] परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि स्वामी जी स्पेन्सर के समान अज्ञेयवादी हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि **'आत्मा न ज्ञेय है और न अज्ञेय'**, क्योंकि अज्ञेय मानने से भी पहले उसे 'विषय' बनना पडेगा। वह ज्ञेय और अज्ञेय दोनों की अपेक्षा अनन्त गुना ऊँचा है।[4]

जब ब्रह्म, अज्ञेय, अनिर्वचनीय एवं अवर्णनीय है तो यह निश्चित है कि उसके विषय में किसी प्रकार के विशेषणों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। सापेक्ष होने के कारण हम उसके विषय में 'अस्ति' शब्द का भी प्रयोग नहीं कर सकते।[5] फिर भी ब्रह्म को सत्, चित् और आनन्द इन शब्दों से अभिहित किया जाता है।[6] यदि इन्हें (सत्, चिदादि को) गुण रूप में स्वीकार किया जाय तो इनका पृथक्-पृथक् अस्तित्व मानना पडेगा। परन्तु स्वामी जी इनके एकत्व का प्रतिपादन करते हैं । अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द ये तीनों एक है, भिन्न-भिन्न नही।[7] ज्ञान और आनन्द के बिना सत्ता नहीं रह सकती। अतः ये तीनों अभिन्न हैं ।

[1] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द - खण्ड तृतीय, पृ0 417-18।
[2] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द - खण्ड द्वितीय, पृ0 134।
[3] वही, खण्ड तृतीय, पृ0 419।
[4] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड द्वितीय, पृ0 134।
[5] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द - खण्ड द्वितीय, पृ0 72।
[6] वही, खण्ड तृतीय, पृ0 336।
[7] वही, खण्ड द्वितीय, पृ0 143।

2 (iv) निरपेक्ष सत् एवं जीव –

आचार्य शंकर के अनुसार जीव और ब्रह्म तत्वतः एक हैं। उनके अनुसार ब्रह्म अनन्त और विभु है, अतः यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जीव को भी अपने मूलरूप में वैसा ही होना चाहिए ।

जब वे ब्रह्म और जीव के बीच संबन्ध की व्याख्या करते हैं तो वे जल में सूर्य के प्रतिबिम्ब का उदाहरण देते हैं। जिस प्रकार शुद्ध या अशुद्ध जल सूर्य को प्रभावित न कर केवल सूर्य के प्रतिबिम्ब को ही प्रभावित करता है, उसी प्रकार अन्तःकरण के सद्‌गुणों या दुर्गुणों से केवल जीव ही प्रभावित होता है शुद्ध चेतन, आत्मा या ब्रह्म नहीं।

वहीं दूसरी ओर जब वे ब्रह्म और जगत् की बात करते हैं तो वे कहते हैं कि वास्तव में संसार का स्वरूप ही ऐसा है जिसके कारण उसे असत् घोषित किया गया है। उनका कहना है कि ब्रह्म ही अन्तिम रूप से या तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से सत् है। शंकर ने विश्व को असत् सिद्ध करने के लिए श्रुतियों का भी आश्रय लिया है। श्रुतियों ने सभी कार्यों को असत् बताया है। उदाहरणार्थ, छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि 'मृत्तिका के सभी कार्य 'नाम' मात्र हैं, जो केवल वाक् से उत्पन्न हुए हैं। केवल मिट्टी ही सत् है।[1] शंकर इस दृष्टान्त का प्रयोग संसार और उसके कारण पर करते हैं।[2] श्रुतियों के अनुसार सभी कार्य असत् होने के कारण, शंकर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि संसार कार्य है और इसलिए असत् है। इस सम्बन्ध में शंकर ने कुछ ऐसी श्रुतियों को उद्‌धृत किया है, जो कारण से अलग कार्य का अभाव बताती हैं[3] अथवा ब्रह्म से विश्व की अभिन्नता

[1] छान्दोग्य उपनिषद् , 6.1.4।

[2] तैत्तिरीय उपनिषद् 3 1 1।

[3] छान्दोग्य उपनिषद् 6.4.1 (अपागादग्नेरग्नित्वम्)।

प्रतिपादित करती हैं[1] और इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि केवल ब्रह्म ही सत् है, अन्य सब कुछ असत् है। श्री रामकृष्ण के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र तत्व है। जब ब्रह्म ही एकमात्र तत्व है, तो इससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि उसके अतिरिक्त जो वस्तुएं होंगी वे निश्चित रूप से असत् होंगी। इसी तर्क के अनुसार श्री रामकृष्ण देव ने जीव एवं जगत् को, जो ब्रह्म की दो अभिव्यक्तियां है, उन्हें असत् कहा। जीव और जगत् आकाश–कुसुम या बंध्या–पुत्र की तरह असत् नहीं हैं, वरन् भ्रम की भांति असत् हैं। जीव और जगत् को भ्रम कहने का का वास्तविक तात्पर्य क्या है? इसके उत्तर में श्री रामकृष्ण देव ने कहा कि जगत् कर्पूर के समान है। जिस प्रकार कपूर के जलने पर कुछ भी अवशेष नहीं रहता, ठीक इसी प्रकार ब्रह्म–साक्षात्कार होने पर जीव और जगत् का भी अवशेष विद्यमान नहीं रहता। जगत् भ्रम की भांति अदृश्य हो जाता है। इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में श्री रामकृष्ण देव जी ने इस प्रकार समझाने की चेष्टा की है। जब तक नमक जल से पृथक् होता है, उसका पृथक् अस्तित्व बना रहता है, पर जल के भीतर समाहित होने पर उसका पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म–ज्ञान प्राप्त होने पर जीव ओर जगत् का पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है।[2]

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो हमारे समक्ष उपस्थित होता है, वह यह है कि यदि ब्रह्म और आत्मा ज्ञान–स्वरूप हैं और एकमात्र तत्व हैं तो आत्मा में भ्रम की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई? इस भ्रम का अधिष्ठान क्या है? इसके उत्तर में तार्किक अद्वैतवादी यही कहेगा कि 'मुझे कुछ इसका भी ज्ञान नही है' वास्तव में यह प्रश्न ही अमान्य है।

[1] छान्दोग्य उपनिषद् 6.8.7, 7.25.2, बृहदारण्यक उपनिषद् 2.4.6 मुण्डक उपनिषद् 2.2.11।

[2] श्री रामकृष्ण उपदेश, अं0 अनुवाद, पृ0 263।

जब तक हमारा पृथक् व्यक्तित्व बना रहेगा, हम निरपेक्ष–सापेक्ष, नित्य–लीला, द्रव्य–गुण, अपौरुषेय–पौरुषेय तथा एक–अनेक के द्वैत से कभी भी मुक्त नही हो सकते। बद्ध अवस्था में निरपेक्ष–तत्व के विषय में हमारी सारी कल्पनाएँ सापेक्ष रूप की ही होंगी। इसी तथ्य को स्वामी रामकृष्ण देव ने अपने ढंग से इस प्रकार व्यक्त किया है, कि 'जब तक हम सापेक्षिकता के धरातल पर खड़े हैं, हमें मक्खन और छाछ दोनों को स्वीकार होगा–ईश्वर और जगत् दोनों की सत्ता माननी पड़ेगी। इस उपमान को अधिक स्पष्ट करते हुए हम कह सकते हैं कि ब्रह्म ही मानो दुग्ध रूप है तथा मक्खन और छाछ उसकी विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं। किन्तु दुग्ध ही इन दोनों का मूल रूप है। उसके बिना इन दोनों की सत्ता संभव नही है। इसी प्रकार पर ब्रह्म ही मूल सत्ता है। जीव और जगत् उसकी विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं, अतः जीव और जगत् की सत्ता सापेक्ष है। दार्शनिक क्षेत्र में सापेक्ष सत्ता का कोई महत्व नही होता। निरपेक्ष सत्ता ही परमसत्ता होती है। इस दृष्टि से ब्रह्म ही एकमात्र सद्वस्तु है। जब तक हम बद्ध–अवस्था में हैं, ईश्वर असत् नही हो सकता। वह शरीर, मन और वाह्य जगत् से कहीं अधिक सत् है। हाँ, ब्रह्म–साक्षात्कार के बाद वह अवश्य असद्भूत हो जाता है। अविद्या के कारण जीव को सद्भूत ब्रह्म में असद्भूत जीव और जगत् उसी प्रकार अन्धकार के कारण रज्जु में सर्प भासित होता है, जिस प्रकार प्रकाश में रज्जु–सर्प तिरोहित हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान के द्वारा अज्ञानान्धकार का नाश होने पर आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है। यह **ब्रह्मानुभूति या आत्मसाक्षात्कार ही मोक्ष है।**

विवेकानन्द आत्मा और परमात्मा में अभेद सम्बन्ध मानते थे। इसे उन्होंने एक सुन्दर रूपक द्वारा समझाने की चेष्टा की है। उन्होंने दो पक्षियों के उदाहरण द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के भेद को समझाया है।

किसी वृक्ष की उच्चतम डाली पर एक सुनहरा पक्षी बैठा है, जो बिल्कुल शान्त, सुस्थिर, तेजस्वी और यशस्वी है। उसके नीचे एक अन्य पक्षी बैठा है जो एक डाली से दूसरी तक फुदकता रहता है। वृक्ष के कुछ फल मधुर हैं पर अन्य तिक्त हैं। नीचे वाला पक्षी कभी मधुर फल का आस्वाद लेता है और सुखी हो जाता है तथा कभी तिक्त फल खाता है और दुःखी हो जाता है। कभी किसी अतिरिक्त फल को खाकर वह इतना दुःखी हो जाता है कि फल खाना हीं छोड़ देता है और अपने से ऊपर वाले पक्षी की ओर ध्यान से देखने लगता है जो न मधुर फल खाता है ओर न तिक्त फल हीं और इसी कारण वह न तो सुखी होता है और न दुःखी ही। ऊपर वाले पक्षी की शांत व सुस्थिर अवस्था को देखकर वह उसी को अपना आदर्श मान लेता है, पर थोड़े समय के बाद उसे पुनः फल खाने की इच्छा सताने लगती है। फिर, ज्यों वह किसी तिक्त फल को खाता है उसे एक और झटका लगता है और पुनः वह ऊपर वाले पक्षी की ओर आकर्षित होता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती है जब तक कि उस पक्षी का भ्रम पूर्णरूप से दूर नहीं हो जाता । भ्रम दूर होने पर नीचे वाला पक्षी ऊपर वाले पक्षी के समीप पहुँचता है। उसके सानिध्य और प्रकाश से वह इस प्रकार प्रभावित हो जाता है कि उसके स्वभाव में पूर्ण परिवर्तन आ जाता है। अब उसे पूर्ण ज्ञान होता है कि वह वास्तव में स्वयं सुनहरा पक्षी था तथा उसके द्वारा मधुर व तिक्त फलों का खाया जाना और उसके परिणामस्वरूप सुख और दुःख का अनुभव होना एक प्रकार का स्वप्न ही था।[1]

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि स्वामी विवेकानन्द जीव को ब्रह्म का स्वरूप ही स्वीकार करते हैं। उपरोक्त उदाहरण की प्रेरणा स्वामी जी

[1] सेलेक्टेड वर्क्स, पृ0 19।

को मुण्डकोपनिषद् के उस मन्त्र से प्राप्त हुई है जहाँ अन्तर्यामी परमात्मा और जीव का वर्णन किया गया है। मन्त्र इस प्रकार है–

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरेकः पिप्पलं स्वादवत्ति, अनश्ननन्येन अभिचाकाशिति ।।"

जीव विज्ञान के विकासवाद के सन्दर्भ में इसकी व्याख्या करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि यह ठीक है कि अमीबा से गौतम बुद्ध की उत्पत्ति हुई पर चूंकि जगत् में ऊर्जा की सम्पूर्ण मात्रा स्थिर है अतः अमीबा भी शक्ति रूप से गौतम बुद्ध ही रहा होगा। स्वामी जी के शब्दों में – 'यदि परिवर्तन प्रक्रिया के एक सिरे पर बुद्ध हैं तो दूसरे सिरे पर अमीबा भी बुद्ध का ही एक रूप है। प्रलय के समय विश्व में उर्जा की वही मात्रा रही होगी जो सृष्टि के समय थी।' स्वामी जी अन्यत्र कहते हैं कि 'हमारे पैरों के नीचे रेगनें वाले क्षुद्रतम कीटाणु से लेकर उच्चतम साधु तक सब में अनन्त शक्ति, अनन्त शुचिता और अन्य प्रकार की अनन्तता पाई जाती है।....... उनके बीच अन्तर केवल अभिव्यक्ति की मात्रा में ही है। कीटाणु उस ऊर्जा को निम्नतम मात्र में अभिव्यक्त करता है, मनुष्य उसी ऊर्जा को कुछ अधिक मात्रा में तथा कोई ईश्वरीय व्यक्ति उस ऊर्जा को अधिकतम मात्र में व्यक्त करता है।[1]

जीव की भांति जगत् भी ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। ब्रह्म जगत् का सूक्ष्म व विभु रूप है तथा जगत् ब्रह्म का स्थूल रूप है। विश्व में पाए जाने वाले समस्त चैतन्यों की समष्टि ही वह अव्यक्त विश्व चैतन्य है, जो उन विभिन्न रूपों में प्रकाशित हो रहा है। इस समष्टि चैतन्य को ही 'ब्रह्म' या 'ईश्वर' की संज्ञा दी गयी है। तत्व एक ही है और वह ब्रह्म है।

[1] सेलेक्टेड वर्क्स, पृ0 249।

वही ब्रह्म जब मायाजन्य देश–काल और निमित्त (कारण) के आवरण मे दिखाई पड़ता है, तब उसे जगत् कहते हैं।

ये देश–काल–निमित्त भी सम्पूर्ण रूप से इन तरंगों पर निर्भर रहते हैं। ज्यों ही तरंगे चली जाती हैं, ये भी अन्तर्निर्हित हो जाते हैं। जीव जिस दिन माया के पार चला जाएगा, ये देश, काल और निमित्त स्वयं अदृश्य हो जाएंगे और जीव मुक्ति–लाभ कर लेगा। प्रकृति ससीम है और आत्मा असीम है। अतः प्रकृति के ऊपर आत्मा की विजय सुनिश्चित है। आत्मा में निहित अजेय शक्ति को विकसित कर हम प्रकृति पर आसानी से विजय–लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

3 श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द के निरपेक्ष सत् सम्बन्धी विचारधारा की समीक्षा –

श्री रामकृष्ण देव के ब्रह्म–विषयक अवधारणा की समीक्षा हम दो भागों में करेंगे। पहले हम उनके ब्रह्म–विषयक उस धारणा को देखें जो उनके द्वारा की गई वेदान्त साधना के पूर्व की है। यहाँ रामकृष्ण परमहंस के लिए ब्रह्म माँ काली ही हैं। वह जगत् की आद्या–शक्ति हैं। इसी की शक्ति से जगत् की सृष्टि, स्थिति ओर लय होती है। यहाँ पर रामकृष्ण के लिए ब्रह्म सगुण–ब्रह्म प्रतीत होता है, किन्तु ऐसा सगुण जो निर्गुण के निषेध पर अवलम्बित हो, पूर्ण नहीं हो सकता। तो, प्रश्न उठता है कि क्या यहाँ पर रामकृष्ण के लिए सगुण ब्रह्म अर्थात् 'काली' एक परिमित सत्ता हैं? अथवा क्या रामकृष्ण निर्गुण का निषेध करते हैं? यहीं पर हम उनके ब्रह्म–विषयक दूसरी अवधारणा पर आते हैं, जिसका उल्लेख इस अनुच्छेद के प्रारम्भ में हीं हुआ है। यहाँ पर उनकी ब्रह्म–विषयक अवधारणा पर उनके वेदान्ती गुरु तोतापूरी के द्वारा करवायी गई वेदान्ती साधना का प्रभाव है।

यहाँ पर श्री रामकृष्ण की धारणा पूरी तरह परम्परागत अद्वैत वेदान्तियों की ही श्रृंखला में हैं। यानी पारमार्थिक स्तर पर निर्गुण और अद्वैत रूप ब्रह्म ही व्यावहारिक स्तर पर प्रपंच रूप में उपस्थित होता है। किन्तु यहाँ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अन्तर भी है और वह यह कि इस जगत् को भी वह इष्टमय देखते हैं। व्यवहार दशा में भी उनका वर्तन जगत् को ब्रह्ममय अनुभूत करके ही होता है, नितान्त असत् रूप में नही। अतः यहाँ पर यदि वे परम्परागत वेदान्तियों पर लगने वाले आपेक्ष- कि वे जगत् की व्याख्या करने के स्थान पर उसके अस्तित्व को ही नकार देते हैं- और फिर जगदाधिष्ठान को अनिर्वचनीय घोषित कर देते हैं- रामकृष्ण पर लागू नहीं होता। रामकृष्ण जगत् की व्याख्या के साथ-साथ पारमार्थिक सत्य को भी अपने आचरण, अपने जीवन अथवा कबीर के शब्दों में कहें तो अपनी 'रहनी' के द्वारा अभिव्यक्ति करते हैं। **मैक्समूलर** के शब्दों में **'रामकृष्ण का जीवन समग्र भारतीयों की पाँच हजार वर्षों की आध्यात्मिकता का जीवन्त प्रतीक है।'** वेदों और पुराणों में निहित आदर्शों के वह जीवन्त प्रतिरूप थे और विवेकानन्द के शब्दों में वेद-वेदान्त के श्रेष्ठ भाष्य रूप।

विवेकानन्द के अनुसार यद्यपि निरपेक्ष सत् को मन और वाणी का विषय नहीं बनाया जा सकता तथापि निरक्षेप सत् को 'सत्-चित्-आनंद' कहकर समझाने का प्रयास किया जा सकता है। **यद्यपि यहाँ पर भी ब्रह्म का विश्लेषण उपनिषद् और शांकर वेदान्त से मिलता-जुलता है तथापि विवेकानन्द उक्त मतों से किंचित विभिन्नता स्थापित करते हुए आनन्द को प्रेम के रूप में स्थापित करते हैं।** फिर ब्रह्म का यही निरूपण उन्हें ईश्वर के निकट ले आता है। उनका मत है कि निरपेक्ष, अवैयक्तिक सत् को समझने की एक दृष्टि यह भी है कि उसे जगत् का स्रष्टा, शासक तथा जगत् के पूर्ण कारक के रूप में देखा जाता है। यहाँ

पर एक प्रश्न यह पैदा होता है कि यदि सत् अनिर्वचनीय है तो वह सगुण कैसे होगा? वस्तुतः ब्रह्म और ईश्वर एक ही सत्ता के दो नाम हैं। उनमें तात्त्विक भेद नहीं है। उनमें दिखलाई पडने वाला भेद हमारे दृष्टिकोण का फल है। ईश्वर को अन्ततः अयथार्थ कहने की आवश्यकता ही नहीं है। वही सत् तात्विक दृष्टि से ब्रह्म है और उस सत् को जब हम धार्मिक दृष्टि से देखते हैं तो वह ईश्वर है। वह ईश्वर सब कुछ है, कण-कण में व्याप्त है। उसी की शक्ति से आकाश में विस्तार है, उसी की शक्ति से वायु का श्वास है, उसी की शक्ति से सूर्य चमकता है तथा उसी की शक्ति से सभी जीवित हैं। वही जगत् का सत् है। वही आत्म की आत्मा है। निरपेक्ष सत् महासागर है जबकि आप और हम सूर्य एवं तारे तथा अन्य सभी कुछ उसी सागर की विभिन्न तरंगे हैं। इन तरंगों की एक दूसरे से भिन्नता क्या है? वह भिन्नता केवल आकार का है, जो आकार काल, स्थान और कारणता है जो सब उन तरंगों पर ही पूर्णतया आधृत है।

आचार्य शंकर जहाँ ब्रह्म की एकमात्र निरपेक्ष सत्ता को स्वीकार करते हैं वहीं वे कहते हैं कि यही ब्रह्म जब माया से संयुक्त हो जाता है तो वह 'ईश्वर' कहलाता है। ईश्वर की निरपेक्ष सत्ता नही है, इसकी मात्र आभासिक सत्ता है। स्वामी विवेकानन्द ईश्वर और ब्रह्म के बीच इस प्रकार का भेद करना उचित नही समझते। उनके अनुसार ब्रह्मवाद, अमूर्त्त एकवाद और ईश्वरवाद ये सभी सत् को समझने के हमारे भिन्न-भिन्न ढंग हैं। ये सत् के लक्षण नहीं हैं। विवेकानन्द सत् की व्याख्या में एकवादी तथा ईश्वरवादी दोनों व्याख्याओं के बीच सहज भाव से विचरण करते हैं। **ए.के. मजूमदार** का विचार है कि यद्यपि स्वामी विवेकानन्द ने व्यक्तित्व रहित ईश्वर या ब्रह्म को परम सत्ता के रूप में स्वीकार किया है तथापि उनके अनुसार व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की भी सत्ता है।

स्पष्ट है कि विवेकानन्द का ब्रह्म–सिद्धान्त उस तरह का शास्त्रीय सिद्धान्त नहीं है जो शंकराचार्य ने प्रतिपादित किया है। वह सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक और अनुभूतिशील है। बुद्ध की भाँति उनका भी उद्देश्य शुष्क दार्शनिक प्रश्नों की मीमांसा न होकर मानवमात्र की अज्ञानता, दुर्बलता और पीड़ा का निवारण था। अतः उनके ब्रह्म–विषयक सिद्धांतों को भी इसी संदर्भ में देखना उचित होगा। वे दार्शनिक प्रश्नों की मीमांसा अवश्य करते हैं किन्तु उनका उद्देश्य उस सिद्धांत को एक साधारण व्यक्ति के जीवन से जोड़ना था। अतः वह मानव के उद्बोधक हैं और उनका दार्शनिक अनुदान भी यही है। सिद्धांत रूप में उन्हें शंकराचार्य का अथवा यह कहें कि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित औपनिषदिक ब्रह्मवाद स्वीकार्य है। हाँ, अपने उद्देश्य पूर्ति हेतु वह उसके कुछ पक्षों पर विशेष बल देते हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। आत्मा का ब्रह्म से तादात्म्य, ब्रह्म के पर और अपर लक्षण आदि वह स्वीकार करते हैं। अतः उनका ब्रह्म–विषयक सिद्धांत अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं में जहाँ एक ओर उपनिषदों और शंकराचार्य को संस्पर्श करता है वहीं शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त पर किए जाने वाले आक्षेपों का परिहार भी रामकृष्ण के आध्यात्मिक अनुभवों में उनके द्वारा दर्शन को व्यवहारिक जीवन से पूर्णतया समीकृत कर देने से हो जाता है। यही उनके ब्रह्मवाद की सैद्धांतिक और व्यवहारिक समीक्षा है। विवेकानन्द जी का निरपेक्ष सत् महासागर के समान है जबकि मानव–समुदाय सूर्य एवं तारों के समान उस महासागर की विभिन्न तरंगे हैं। इन तरंगों में पारस्परिक आकारिक भिन्नता है, जो काल, स्थान एवं कारणता की है। इन समस्त तरंगों की पूर्णता महासागर के अभाव में संभव नही है। यही जगत् की यथार्थता है।

4

परम सत् (ब्रह्म) की साधना : स्वरूप तथा मार्ग -

1. अद्वैत वेदान्तिक साधना का स्वरूप तथा मोक्ष के साधन
   - (i) बहिरंग साधन
   - (ii) अतरंग साधन
2. श्री रामकृष्ण की साधना का स्वरूप
   - (i) साधना के अवरोधक तत्व,
   - (ii) साधना के सहायक तत्व,
   - (iii) श्री रामकृष्ण की ज्ञान-मार्गी साधना
3. विवेकानन्द की साधना का स्वरूप
   - (i) विवेकानन्द के अनुसार ज्ञान-योग
   - (ii) भक्तियोग एवं ज्ञानयोग का अन्तर
4. श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द का व्यावहारिक साधन मार्ग

परम सत् (ब्रह्म) की साधना : स्वरूप तथा मार्ग

(1) अद्वैत वेदान्तिक साधना का स्वरूप तथा मोक्ष के साधन–

अद्वैतवादी शंकर ने दावा किया है कि जो बात करोडों सद्ग्रंथ अपने अनेकानेक युक्तियों द्वारा नही कह सकते उसे मैं मात्र अर्द्धश्लोक में व्यक्त कर सकता हूँ – **"ब्रह्म सत्यं जगन्नमिथ्या जीवो ब्रह्मैव ना परः।"** प्रायः वेदान्त के सभी सम्प्रदायों में आत्म– साक्षात्कार को ही मोक्ष का साधन बतलाया गया है। सबने उपनिषद् के साधना मार्ग का अनुकरण किया है– "आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः।" बादरायण व्यास ने 'ब्रह्म–सूत्र' में 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' द्वारा इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। स्मृतियों में भी **श्रोतव्यो श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यो चोपपत्तिभिः** कहकर इसी तथ्य का समर्थन किया गया है।

शंकर के अनुसार ब्रह्म–ज्ञान या आत्म–ज्ञान ही मोक्ष है। ब्रह्म–ज्ञान के स्वरूप को समझने के लिए अद्वैत–दर्शन में वर्णित व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्य को समझना आवश्यक है। व्यावहारिक सत्य बुद्धि का दृष्टिकोण है। परमतत्त्व का जो ज्ञान हमें बुद्धि प्रदान कर सकती है, वही व्यावहारिक सत्य है। मानव का व्यावहारिक जीवन इसी आधार पर चलता है। लेकिन, बुद्धि पूर्णतया निर्दोष नही है। शंकराचार्य मानव अनुभव की समग्रता को दर्शन का आधार मानते हैं। इन्होनें मानवीय अनुभव को चार अवस्थाओं में विश्लेषित किया है–

(I) **जागृत–** यह अवस्था हमारे समस्त व्यावहरिक जीवन का आधार है।

(II) **स्वप्न–**जब हम विभिन्न प्रकार के स्वप्न देखते हैं, उसे

स्वप्नावस्था कहते हैं।

(III) **सुषुप्त–** जब हम शान्त और गहरी नींद में सो रहे होते हैं, उसे 'सुषुप्तावास्था' कहते हैं।

(IV) **तुरीय–** सुषुप्तावस्था से भी अत्यधिक शान्त और आनन्दमय अवस्था का नाम 'तुरीयावस्था' है। इस अवस्था में जीव यह अनुभव करता है कि वह 'ब्रह्म' है। परम ब्रह्म का ज्ञान केवल तुरीयावस्था में ही प्राप्त हो सकता है। गौड़पादाचार्य ने कहा था– "अनादि माया के प्रभाव से सोया हुआ जीव जब जागता है, तब वह अजन्मा, निद्रारहित, स्वप्नरहित अद्वैत–तत्व का ज्ञान प्राप्त करता है।"

"अनादि मायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।

अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा।।"[1]

संसार में जो द्वैत या अनेकत्व है वह मायाजन्य है, परमार्थतः केवल अद्वैत ही एकमात्र सत्य है–

"मायामित्रामिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः"।[2]

गौडपादाचार्य आचार्य शंकर के गुरू थे, जिनके लिए शंकराचार्य ने सादर सविनय किया है–

"यस्तु पूज्याभिपूज्यं परमगुरूममुं पादपातैर्नतोऽस्मि।"[3]

उपर्युक्त मत गुरू परम्परानुसार शंकर के दर्शन में ज्यों–का–त्यों आ गया है।

[1] माण्डूक्यकारिका 1/16

[2] माण्डूक्यकारिका, 1/16

[3] माण्डूक्यकारिका, शांकर भाष्य । (अंतिम श्लोक)

शंकराचार्य ने अनुभव की उपर्युक्त चर्तुअवस्थाओं को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है। अनुभव की प्रत्येक अवस्था में अनुभव किए गए पदार्थो की कुछ–न– कुछ सत्यता अवश्य है। भ्रम या स्वप्न की सत्ता क्षणिक है। शंकराचार्य इसे **'प्रातिभासिक सत्य'** कहते है। जागृतावस्था की सत्यता को शंकराचार्य ने **'व्यावहारिक सत्य'** कहा है। प्रातिभासिक पदार्थो की सत्यता अत्यल्प समय तक रहती है। जबकि व्यावहारिक जीवन के पदार्थ अनेकों जन्मों तक भी (जब तक कि ब्रह्म–ज्ञान का उदय नहीं होता) सत्य बने रहते हैं। ब्रह्म–ज्ञानि के उदय होने पर ज्ञात होता है कि वास्तविक सत्यता केवल ब्रह्म–ज्ञान की ही है। यहाँ तर्कत. भी सत् को अद्वैत सिद्ध किया जा सकता है। सत् सदैव एक ही होगा। जैसे– मेरी कमीज सफेद है, तो उसे एक मात्र सफेद ही कहा जायेगा, किसी दूसरे रंग से इसे अभिहित नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार सत् ब्रह्म ही हो सकता है तो उसके बाद भी सभी सत्ता असत् ही होगी। इसे ही शंकराचार्य **'परमार्थिक सत्'** कहते हैं।

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म स्वयं में निर्गुण एवं निराकार है। हम उसका वाणी द्वारा वर्णन नहीं कर सकते और न बुद्धि की कोटियों से उसे समझ सकते हैं, अतएव वह वर्णनातीत है। लेकिन, जब वही निराकर व निर्गुण ब्रह्म बुद्धि के चश्मे से देखा जाता है तो वह हमें साकार और सगुण प्रतीत होता है। इसी को शंकराचार्य ने सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म या ईश्वर कहा है। बुद्धि की कोटियों से निर्गुण ब्रह्म सभी दिव्य गुणों का आश्रय प्रतीत होता है। यद्यपि ब्रह्म वर्णनातीत है तथापि यदि कोई जिज्ञासु उसे सांसारिक शब्दावली में जानना चाहे तो उसे **''सत्यं ज्ञानमनन्तम ब्रह्म''** (तैतिरियोपनिषद्) कहा जा सकता है। लेकिन, यहाँ ध्यातव्य है कि निर्गुण ब्रह्म मन , वाणी और शब्द से परे है। अतः निर्गुण ब्रह्म के विषय में हम न तो कोई विचार कर सकते हैं और न उसके स्वरूप को वाणी

में व्यक्त कर सकते हैं। फिर भी यदि हम ऐसा करते हैं तो वह सगुण ब्रह्म या ईश्वर का ही वर्णन होता है। निर्गुण ब्रह्म को 'नेति-नेति' ही कहा जा सकता है। नेति-नेति निषेधात्मक अर्थ में प्रयुक्त नही है।

अविद्या के कारण ज्ञान का आवरण ढ़ँक जाता है जिसके कारण मनुष्य ब्रह्म-भाव या सत्-भाव से च्युत होकर जीव-भाव में आ जाता है। यह अविद्या ही उसमें आत्मा-परमात्मा, जीव-ब्रह्म का द्वैतभाव जगाती है। इसी कारण हम असत्-जगत् को और इस जगत् के पदार्थो को वास्तविक समझकर उनकी प्राप्ति से सुखी और अप्राप्ति से दुःखी होते हैं। सुख और दुःख क्षणिक आवेग या संवेग (Emotions) है। अतः ये वास्तविक नही हो सकते माया की आवरण शक्ति उस अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म को उसी प्रकार ढ़ँक लेती है, जिस प्रकार राहु द्वारा प्रकाश पुन्ज सूर्य को ढ़ँक लिया जाता है। जीवन के बन्धन और भ्रम का कारण माया की आवरण और विक्षेप दो शक्तियाँ हैं जिनके कारण अविद्या की उपाधि से परिच्छिन्न जीवात्मा अनन्त जन्मों तक इस इस भव-चक्र में घुमता रहता है।

मोक्ष के साधन - श्री शंकराचार्य ने जीव के बन्धन और भ्रम को दूर करने के लिए प्रथम उपाय बतलाया है- **'ज्ञान' (ऋते ज्ञानाय मुक्तिः)**। अब प्रश्न उठता है कि ज्ञान का स्वरूप क्या है? शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान रूपी मुक्ति का स्वरूप उपनिषद के इस महावाक्य में समाहित है- **'अहम् ब्रह्मास्मि'** इस महावाक्य के अनुसार जीव और ब्रह्म एक ही हैं। फिर, प्रश्न यह उठता है कि तब यह अनेकता क्यों भासित होती है? शंकराचार्य इसका उत्तर देते हैं कि- यह अविद्या या अज्ञान माया के कारण भासित होता है या द्वैत दिखायी देता है । इस अविद्या का नाश तत्त्व-ज्ञान के द्वारा होता है। जब तत्वदर्शी यह अनुभव करने लगता है कि 'अहम- ब्रह्मास्मि'। यही मुक्ति है और इसके बाद न तो

किसी प्रकार के कर्म करने की आवश्यकता रह जाती है और न किसी प्रकार के शास्त्र या उपदेश का आश्रय लेना अपेक्षित रह जाता है। अब प्रश्न उठता है कि क्या तत्व–ज्ञान की प्राप्ति संभव है?

शंकराचार्य के अनुसार इसके लिए अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक है। शंकराचार्य मोक्ष को परम–पुरूषार्थ मानते हैं जो भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुकुल ही है। इस परम–पुरूषार्थ की प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपने नैतिक गुणों को बलवान बनाना आवश्यक है। यही नैतिक गुणों की बलवत्ता और अन्तःकरण की शुद्धि है। कर्मो से परिशुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान का उदय होता है। और तभी परमतत्त्व (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। लेकिन, इसमें न केवल कर्म और न केवल आत्मज्ञान ही सहायक होता है। बल्कि दोनों मिलकर ही मोक्ष देने वाले होते हैं। जो पुरूष कारणरूप ब्रह्म और कार्य रूप जगत् दोनों को जानता है, वह असंभूति (मृत्यु) पर विजय प्राप्त करके संभूति (मोक्ष) को प्राप्त होता है। मोक्ष प्राप्ति के ये नैतिक साधन दो प्रकार के हैं– (1) बहिरंग और (2) अन्तरंग। विवेक, वैराग्य शमादि और मुमुक्षुत्व ये चार बहिरंग साधन हैं। श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि ये चार अन्तरंग साधन हैं। वेदान्त की पदावली में उपर्युक्त चार बहिरंग साधनों को **'साधन–चतुष्टय'** से अभिहित किया गया है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चार वृत्तियों की समष्टि का नाम ही अन्तःकरण है। इन चारों वृत्तियों का शासन साधन–चतुष्टय द्वारा होता है।

1 (i) बहिरंग साधन (साधन–चतुष्ट्य) –

(I) **नित्यानित्यवस्तुविवेक–** नित्य वस्तु को नित्य और अनित्य वस्तु को अनित्य समझना ही विवेक है। इस विवेक साधन के द्वारा जाना जा सकता है कि परमात्मा नित्य है और उसके अतिरिक्त सभी वस्तुएं

अनित्य।

(II) **इहमुत्रार्थ फल भोग-विराग-** इस लोक के भोग-विलास और वेदोक्त यज्ञयागादिजन्य स्वार्गादि पारलौकिक भोग - इन दोनों की वस्तुओं एवं फलों से सवर्था विमुख हो जाना ही 'वैराग्य' है।

(III) **शमदमादिसाधन सम्पत्** - शमादि षट्-सम्पति का नाम है- **'शम', 'दम', 'तितिक्षा', 'उपरति', 'समाधान' और 'श्रद्धा'।** इन्द्रियों के विषयों को संयमित करके आत्मवस्तु में चित्त लगाने का नाम 'शम' है। ब्रह्म-साक्षात्कार के साधनभूत श्रवण-मननादि के अतिरिक्त विषयों से चक्षु, श्रोत आदि इन्द्रियों को हटाकर उन्हें यथास्थान स्थिर रखना ही 'दम' है। समस्त मानापमान, सुखःदुख, विभिन्नताएं आदि को सहन करके उनके लिए किसी प्रकार का विलाप या पश्चाताप न करना ही 'तितिक्षा' है। निष्काम भाव से समस्त कर्मो को भगवान में केन्द्रित करना ही 'समाधान है। गुरूवाक्य और शास्त्रोक्त कथनों में विश्वास करना ही 'श्रद्धा' है।

(IV) **मुमुक्षुत्व-** आत्म-स्वरूप का परोक्ष बोध हो जाने के बाद अज्ञान-कल्पित बन्ध मुक्त हो जाने की इच्छा 'मुमुक्षत्व' है।

इस प्रकार नित्यानित्यवस्तु विवेक से वैराग्य, वैराग्य से शमादि षट्सम्पतियों को विरति और इसके बाद मुक्त हो जाने की इच्छा (मुमुक्षत्व) होती है।

1 (ii) अन्तरंग साधन- वेदान्त विद्या का अधिकारी हो जाने के बाद स्वरूप चैतन्य का साक्षात्कार करना आवश्यक हो जाता है। इसके लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि इन चार अंतरंग साधनों में प्रवृत्त होना पड़ता है।

(I) **श्रवण-** छः प्रकार के लिंगो द्वारा समस्त वेदान्त वाक्यों का

एक ही अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य समझना 'श्रवण' कहलाता है। छः लिंगो के नाम हैं– **उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति।**

(II) **मनन–** छः प्रकार के लिंगो का तात्पर्य समझकर वेदान्त के अनुकूल वाक्यों द्वारा अद्वितीय ब्रह्म का चिंतन करना 'मनन' कहलाता है।

(III) **निदिध्यासन–** देह से लेकर बुद्धिपर्यन्त जितने भी विभिन्न जड़ पदार्थ हैं, उनकी भिन्नता को हटाकर सब में एकमात्र ब्रह्म–विषयक विश्वास करना ''निदिध्यासन'' है।

(IV) **समाधि–** ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी का अनिर्वचनीय अद्वैत में विलीन हो जाना ही समाधि है।

मोक्ष का स्वरूप – अद्वैत वेदान्त के अनुसार मोक्ष कार्य या उत्पाद्य नहीं है। यह कारण का विकास भी नहीं है क्योंकि कार्य और विकार्य दोनों नित्य नहीं हैं। मोक्ष संस्कार भी नहीं है क्योंकि इसमें गुण और दोष संभव नही है। मोक्ष स्वरूपतः नित्य एवं विशुद्ध है। मोक्ष आप्य या प्राप्य भी नहीं है क्योंकि वह अप्राप्य की प्राप्ति नहीं है अपितु सदैव प्राप्य है। शंकराचार्य ने मोक्ष का अत्यन्त सुन्दर निरूपण निम्नवत् शब्दों में किया है–

'इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थ नित्यं, व्योमवत् सर्वव्यापी, सर्वविक्रियारहिंत, नित्यतृप्तं, निरवयं, स्वयंज्योतिः स्वाभावम्, यत्रधर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च, नोपवर्तते तदेतत् अशरीरत्वं मोक्षाख्याम्।'' –शा. भा.

अर्थात् यह पारमार्थिक सत् है, कूटस्थ नित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सभी प्रकार के विकारों से रहित है, नित्यतृप्त है, निरवय है,

स्वयंज्योतिस्वरूप है, यह धर्म और अधर्म नामक शुभाशुभ कर्मो से तथा सुखदुःखादि कार्यो से सर्वथा असंपृक्त है, यह कालत्रयातीत है, यह अशरीरत्व मोक्ष कहलाता है।

शंकराचार्य द्वारा मोक्ष के तीन लक्षण बतलाए गए हैं–

(I) यह अविद्या निवृत्ति है,

(II) यह ब्रह्मभाव या ब्रह्मसाक्षात्कार है,

(III) यह निम्न अशरीरत्व है।

मोक्ष न तो कर्म का फल है और न ही उपासना का। मोक्ष नित्य आनन्द है जो लौकिक पारलौकिक सुखों से भिन्न परमानन्द की अवस्था है। लौकिक और पारलौकिक सुख कर्मजन्य हैं। ये सत्कर्म या धर्म की पुण्य नामक शक्ति से उत्पन्न होते हैं तथा पुण्य के क्षीण होने पर वे भी नष्ट हो जाते हैं। (क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति)। मोक्ष को ब्रह्म–ज्ञान द्वारा उत्पन्न फल भी नहीं कहा जा सकता। ऐसा होने पर मोक्ष कार्य होने के कारण अनित्य होगा। ज्ञान प्रकाशक होता है, कारक नही। ब्रह्म –ज्ञान केवल मोक्ष में बाधित अविद्या को हटा देता है, उसे उत्पन्न नही करता। अतः ब्रह्म–ज्ञान, अविद्यानिवृति और मोक्ष एक ही है। इनमें कार्य का कोई अन्तर या वैष्मय नही है।

आलोचकों द्वारा यहाँ यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि ज्ञान, जिस पर शंकर इतना अधिक जोर दे रहे हैं, स्वयं बुद्धि की एक क्रिया है। शंकराचार्य के अनुसार यह आपत्ति अनुचित है क्योंकि ज्ञान और कर्म अपने स्वरूप में एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न हैं। ज्ञान ज्ञाता की क्रिया पर निर्भर नही करता। यह सदैव ज्ञेय पदार्थ के स्वरूप पर निर्भर रहता है। कर्म के विपरीत, ज्ञान को न तो निर्मित किया जा सकता है और न

विकार के परिणामस्वरूप प्राप्त किया जा सकता है। वह न तो मनुष्य के मस्तिष्क पर निर्भर रहता है और न ही वैदिक वाक्यों पर वरन् वह पूर्णतः ब्रह्म पदार्थो पर ही निर्भर रहता है। ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त करने के लिए कहीं बाहर ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है। ब्रह्म तो आत्मा के रूप में ही विद्यमान है। ऐसे व्यक्ति के लिए जिसने ब्रह्म से अभेद स्थापित कर लिया है कोई कार्य करना शेष नही रहता। व्यावहारिक जीवन के हमारे कार्य अतृप्त इच्छा की पूर्ति के लिए किए जाते हैं, जबकि मुक्त-पुरुष की कोई इच्छा अतृप्त नहीं रह जाती है। वह सभी कार्यो को स्वतःस्फूर्ति से केवल शरीर का धर्म समझकर करता रहता है। गीता में भी ऐसा ही कहा गया है-

"न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एवं च कर्मणि।।" -गीता 3/22

मुक्त पुरुष के सभी संशय दूर हो जाते हैं। उसके समस्त संचित कर्मों का नाश हो जाता है। संचीयमान कर्म अब उसे बाँध नही सकते क्योंकि वह अब जान लेता है कि सभी कर्म और परिवर्तन ब्रह्म पर केवल आरोपण हैं, अतः मिथ्या हैं।[1] अब वह ब्रह्म के सदृश नही रह जाता वरन् स्वयं ब्रह्म हो जाता है **(ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति)**। शंकराचार्य जीवन-मुक्ति और विदेह-मुक्ति दोनों को मान्यता देते हैं जबकि विशिष्टाद्वैती वैष्णव रामानुजाचार्य ने केवल विदेह-मुक्ति को माना गया है। शंकर के जीवन-मुक्ति और विदेह-मुक्ति की अवधारणा की ही भांति भारतीय दर्शन में सांख्य-योग, जैन और बौद्ध दर्शनों में ऐसा ही माना गया हैं।

[1] भिद्यते हृदय ग्रंथि क्षिद्यन्ते सर्व संशया·
क्षियन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे। - मुण्डक उपनिषद् 2/2/8

(2) श्री रामकृष्ण की साधना का स्वरूप –

साधनों के क्रम में यद्यपि श्री रामकृष्ण देव ने किसी नवीन मार्ग का उपदेश नही किया परन्तु जैसे किसी भी एक कार्य के लिए परिस्थिति एवं समयानुसार विशिष्ट निर्देशन और निषेध हो सकते हैं, उसी प्रकार श्री रामकृष्ण ने भी पूर्वप्रतिपादित साधन–क्रम में ही समन्वय कर साधन विशेष पर न्यूनाधिक बल देते हुए साधक को ईश्वर के प्रति उत्प्रेरित किया है। यदि कोई कठोर पिता दिल्ली से कलकत्ता जाने वाले पुत्र के मार्ग को नियंत्रक आदेशों में बाँध दे तो पुत्र को गन्तव्य मार्ग दुर्गम और कठोर जान पड़ेगा। प्राचीन वेदान्ती आचार्यो का साधन–विधान इसी प्रकार का है। आधुनिक विचारकों ने तार्किक और सैद्धान्तिक संगति की अपेक्षा तथ्यसंगत संगति पर ही अधिक जोर दिया है। मार्ग को सर्वग्राही बनाने के लिए ऐसा उचित भी है। श्री रामकृष्ण देव कहते हैं– ''मनुष्य सन्यासी है या गृहस्थ, ईश्वर प्राप्ति में इसका कोई महत्त्व नही है। ईश्वर तो सदैव मानसिक व्याकुलता और आर्कषण को देखते हैं। अपने मन को सदैव उस कछुए की भाँति ईश्वर पर ही केंद्रित रखना चाहिए जो कि रहता तो जल में है परन्तु जिसका ध्यान सदा अपने अण्डों पर रहता है।

वे कहते हैं कि ईश्वर नर लीला करते हैं, वे मानवीय रूप में अवतीर्ण होते हैं, जैसे– श्रीकृष्ण, श्रीरामचन्द्र, चैतन्यदेव आदि। परन्तु ईश्वर को जानने लिए साधना की आवश्यकता होती है। तालाब में बडी–बडी मछलियाँ हैं, उनके लिए चारा डालना पड़ता है, दुध से मक्खन निकालने के लिए उसे मथना पड़ता है, राई को पेरकर ही उसमें से तेल निकालना पड़ता है तथा मेंहदी को पीसकर ही उससे लालिमा प्राप्त की जा सकती है। इसी प्रकार कठोर तप के कठिन परिश्रम के द्वारा साधना के बल पर ईश्वर की प्राप्ति की जा सकती है। इन शब्दों के द्वारा श्री रामकृष्ण देव

ने जनमानस में परम्परा से चली आ रही ईश्वर–दर्शन की आशक्तता का भाव दूर कर दिया। उन्होंने सर्वसन्यास द्वारा ही ईश्वर–दर्शन संभव है, इस धारणा का मूलोच्छेद किया और प्रवृत्तिवाद की स्थापना की।

प्रवृत्तिवादी होते हुए भी श्री रामकृष्ण ने मन की वासना के क्षय के लिए एकान्त–सेवन, निवृत्तिवाद के महत्व को भी स्वीकार किया। "मानव मन उस दुग्ध के समान है जो संसार रूपी जल में रहेगा तो अशुद्ध हो जाएगा। अतः एकान्त में उसका दधि बनाकर नवनीत को प्राप्त कर लेना चाहिए, तभी भय से मुक्ति प्राप्त हो सकेगी।[1] निर्जन अवस्था में मन को एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए। "पौधे को यदि चारों तरफ से सुरक्षित नहीं किया जाएगा तो भेड बकरी आदि पशुओं से उनकी सुरक्षा कैसे हो सकेगी? सन्निपात–ज्वर–व्यक्ति के आवास स्थल में जैसे जलादि शीत पदार्थ नही रखे जाते उसी प्रकार ईश्वर भक्ति में निमग्न व्यक्ति को विषय–वासना से बचकर एकान्त सेवन करना चाहिए।[2] विषय–वासना से युक्त मन ईश्वर–भजन के लिए उसी प्रकार अनुपयुक्त है जैसे तैल–युक्त कागज लिखने के अयोग्य होता है।

श्री रामकृष्ण देव बड़े ही सरल शब्दों में कहते हैं कि सभी लोग साधना के अधिकारी नही हो सकते। जिन लोगों का हृदय सांसारिक विषय–वासनाओं मे रमा हुआ है, उन्हें ईश्वर व धर्म की भावानाएं ग्राह्य नहीं हो सकतीं। आम, अमरूद इत्यादि केवल साबूत फल ही भगवान के भोग लग सकते हैं, कौए आदि के द्वारा काटा (जूठा) हुआ फल न तो देव–पूजा के काम आ सकता है और न ही ब्राह्मण अपने काम ला सकता है। उसी प्रकार पवित्र हृदय वाले बालकों या युवकों जिनका हृदय

[1] वही (प्रथम भाग), पृ0 8।

[2] टीचिंग्स ऑफ रामकृष्ण, पृ0 104।

सांसारिकता से दूषित नहीं हुआ है, को ही साधना–पथ का अधिकारी माना जा सकता है।

साधक के विषय में वे कहते हैं कि– **संसार में दो प्रकार के साधक दिखलाई देते हैं–** एक बन्दर के समान **(मर्कट न्याय)** स्वभाव वाले और दूसरे बिल्ली के बच्चे के समान **(मार्जार न्याय)** स्वभाव वाले। बन्दर का बच्चा पहले अपनी माँ को पकड़ता है फिर माँ उसको अपने साथ लेकर यत्र–तत्र घूमती है। बिल्ली का बच्चा केवल एक स्थान पर रहकर म्याऊँ–म्याऊँ करता रहता है । उसकी माँ उसकी गर्दन पकडकर इधर–उधर जहाँ चाहती है उसे ले जाती है। इसी प्रकार ज्ञानमार्गी और कर्ममार्गी साधक अपनी चेष्टा द्वारा ईश्वर–प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं पर भक्तिमार्गी ईश्वर को हीं अपना कर्त्ता–धर्ता समझकर, उन्हीं के चरणों में भरोसा किए हुए बिल्ली के बच्चे की भाँति निश्चिंत होकर उनका नाम जपा करते हैं।[1]

जिस प्रकार एक ही व्यक्ति का पिता, किसी का ताऊ, किसी का चाचा, किसी का मौसा, किसी का लड़का, किसी का दामाद और किसी का श्वसुर होता है उसी प्रकार भिन्न–भिन्न साधक एक ही सच्चिदानन्द की शांत, दास्य, वात्सल्य, मधुर इत्यादि नाना भावों द्वारा उपासना करते रहते हैं।[2]

योगी दो प्रकार के होते हैं : 'गुप्त योगी' और **'व्यक्त योगी।'** जो गुप्त योगी हैं, वे गुप्त रूप से ईश्वर भजन में सलग्न रहते हैं। बाहरी लोगों को तनिक भी पता नही लगने पाता। पर जो व्यक्त योगी

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश पृष्ठ 50।

[2] वही, पृ0 51।

है, वे योग, दण्डादि वाह्य–चिह्न धारण करके लोगों के साथ योग की ही बातचीत किया करते हैं।

इसी प्रकार **आराधक तीन प्रकार के होते हैं– 'सात्त्विक, 'राजसिक' एवं 'तामसिक'।** सात्त्विक आराधक वे हैं, वे जो विशुद्ध हृदय से निरहंकार होकर ईश्वर की आराधना करने में विश्वास करते हैं। इसके विपरीत तामसिक आराधक वे है जो सैकड़ों निरपराध बकरे–बकरियों की बलि देकर देवी को प्रसन्न करने का प्रत्यन्त करते हैं। सात्त्विक साधक सर्वोत्तम प्रकार के साधक हैं।[1]

श्री रामकृष्ण देव के अनुसार संसार में रहकर भी ईश्वर–साधना की जा सकती है। मनुष्य संसार मे रह सकता है, पर संसार को मनुष्य के भीतर नहीं रहना चाहिए। पानी में नाव रही तो कोई हानि नहीं है पर यदि पानी नाव के भीतर पहुँचा तो नाव डूब जाती है। इसी प्रकार साधक को संसार में रहने से कोई हानि नहीं है,पर साधक के मन में संसार–भाव के प्रवेश का फल बुरा होता है।[2] संसार में रहकर जो साधना कर सकते हैं, वे वास्तव में वीर साधक हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि ज्ञान–लाभ होने पर मनुष्य संसार में किस प्रकार रहता है? तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार शीशे के घर में बैठने से मनुष्य को भीतर और बाहर दोनों ओर दिखाई देता है, उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य को अन्दर और बाहर सर्वत्र सर्वव्यापी चैतन्य का ही बोध होता है, संसार का नही। ज्ञानी संसार में रहते हुए भी सर्वत्र भगवान् के ही दर्शन करता है[3] –

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश, अं0 अनु0, पृ0 92।
[2] वही, हि0 अनु0, पृ0 41।
[3] श्री रामकृष्ण उपदेश, अं0 अनु0 पृ0 43।

2 (1) साधना के अवरोधक तत्त्व –

जिस प्रकार घड़े में एक भी छेद रहने से सारा पानी धीरे-धीरे बह जाता है, उसी प्रकार साधक के अन्दर यदि थोड़ी भी कमजोरी रह जाय तो समस्त साधना व्यर्थ हो जाती है। साधना के निम्न अवरोधक हैं–

(I) **विषय-बुद्धि** – वासना साधना-पथ की सबसे बडी अवरोधक है। गीली मिट्टी से कोई वस्तु बनाई जा सकती है परन्तु, पकी हुई मिट्टी किसी भी वस्तु के निर्माण में काम नहीं आ सकती। इसी प्रकार जिस व्यक्ति का हृदय विषय की ज्वाला में पक गया है, उसमें पारमार्थिक भाव नहीं आ सकता[1] कागज में यदि तेल लगा हो तो उस पर लिखा नहीं जा सकता, उसी प्रकार जीव में जब कामिनी-कांचन रूपी तेल लग जाता है तो उसके द्वारा साधना नही हो सकती वासना का चिह्न-मात्र भी रह जाने पर भगवान् प्राप्त नहीं हो सकते। मन जब वासना रहित होकर शुद्ध हो जाता है, तभी सच्चिदानन्द की प्राप्ति होती है।[2]

(II) **ग्रन्थ** – ग्रन्थ, शास्त्र विचार या व्यर्थ का तर्क-वितर्क ईश्वर साधना में बाधक होता है। ग्रन्थ, ग्रन्थ का काम न करके ग्रन्थि का ही काम करते हैं। विवेक, वैराग्ययुक्त अन्तःकरण से यदि ग्रन्थों का पाठ न किया जाए तो हृदय में अहंकार आदि का गाँठ ही पक्की होती है।[3] व्यर्थ में केवल शास्त्र विचार अथवा तर्क-वितर्क करने से यह छिछला मन मैला हो जाता है।[4]

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश, पृ० 53।
[2] वही, पृ० 56।
[3] श्री रामकृष्ण उपदेश, पृ० 31।
[4] वही, पृ० 55।

(III) **अभिमान** – अभिमान ईश्वर तक पहुँचने में बाधा उत्पन्न करता है। जिस प्रकार दिन के घने बादल सूर्य के किरणों को पृथ्वी तक नही पहुँचने देते, उसी प्रकार अहंकार और अभिमान मनुष्य के हृदय को ईश्वर–कृपा से वंचित रखते हैं।[1] वर्षा का जल ऊँचाई पर कभी भी नहीं टिकता, सदा किसी नीचे स्थान को ही ढूँढ़ता है, उसी प्रकार ईश्वरीय अनुकम्पा अहंकार शून्य व्यक्ति के पास ही स्थित रहती है। जो दंभी और अभिमानी हैं उन पर ईश्वरीय अनुकम्पा नही होती।

(IV) **कंचन–धन** का अभिमान भी मनुष्य को ईश्वर से दूर कर देता है। ईश्वर प्राप्ति के लिए अपरिग्रह की भावना का होना नितान्त आवश्यक है। कहा भी गया हैः ''मातृवत परदारेषु, पर द्रव्येषु लोष्ठवत। आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः।'' केवल एक साधन है, उसे साध्य रूप कभी नहीं मानना चाहिए। परमहंस देव धन का कभी भी संस्पर्श नही करते थे। स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है कि उनकी निद्रावस्था में यदि कोई सिक्के द्वारा उनका स्पर्श करता था तो उनका शरीर धनुष की तरह टेढ़ा हो जाता था। वे यह भी कहते थे कि जिस व्यक्ति की दृष्टि लक्ष्मी पर लगी होती है, वह कभी विष्णु (भगवान) का साक्षात्कार नही कर सकता।

2 (ii)– **साधना के सहायक तत्त्व** –

निम्न अवस्थाएँ ईश्वर प्राप्ति में सहायक होती हैः–

(I) **सहनशीलता** – जो सहन करता है, वही जीवित रहता है, जो सहन नहीं करता उसका विनाश हो जाता है। सहनशीलता का पाठ पढ़ने के लिए सम्पूर्ण वर्णमाला में 'स' कार तीन होते हैं श, ष और स।

[1] वही, अं० अनु०, पृ० 52।

लोहार के घर में निहाई के उपर कितने जोर से बडे–बडे हथौड़ों द्वारा पीटते हैं, तो भी निहाई का कुछ नहीं होता। इसी प्रकार मानव की बुद्धि 'स्थिर' और 'कूटस्थ' होनी चाहिए।

(II) **निष्कपटता (सरलता)** – चित्त की सरलता द्वारा ईश्वर प्राप्ति का कार्य सरल हो जाता है। इसके लिए हठयोग की भी आवश्यकता नहीं होती। श्री रामकृष्ण देव कहा करते थे कि यही सोचो कि तुम्हारा मन भगवान के चरण कमल से एक रेशम के धागों द्वारा बँधा है। रेशम का धागा इसलिए बँधा है जिससे कि भगवान के चरण को कष्ट न हो।

(III) **सत्संग** – जैसे वकील को देखने से मुकदमे, और कचहरी की बातें मन में उठती हैं तथा डाक्टर या वैद्य को देखने से बीमारी या दवा की याद आती है उसी प्रकार साधु या भक्त को देखने से भगवत्–भाव उमड़ने लगता है। श्री रामकृष्ण देव के अनुसार साधु–संग वैसा ही है जैसे चावल का धोया हुआ जल। जैसे जिसको अत्यधिक नशा चढ़ा हो, उसे यदि चावल का धोया हुआ पानी पिला दिया जाय तो नशा उतर जाता है। उसी प्रकार इस संसार रूपी मद मे जो मत हो रहे हैं, उनका नशा दूर करने के लिए एकमात्र उपाय साधु–संग ही है।[1]

(IV) **विनय** – जो ईश्वर प्राप्ति का विचार रखता है, उसे विनयशील अथवा नम्र होना चाहिए। श्री रामकृष्ण देव कहते हैं कि तराजू का जो पलड़ा जितना ही भारी होता है, उतना ही वह नीचे की ओर झुका होता है।

(V) **त्याग** – आध्यात्मिकता की प्राप्ति के लिए सांसारिकता का त्याग परमावश्यक है। श्री परमहंस देव ने त्यागी की उपमा एक मधुमक्खी

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश, पृ० 78।

और चातक से दी है। मधुमक्खी केवल फूलों का रस ही ग्रहण करती है, मक्खी की तरह सभी स्थानों पर नही बैठती । इसी प्रकार चातक केवल स्वाति नक्षत्र का ही पानी पीता है पर कौआ सब जगह का पानी पीता है। मनुष्य को भी इनसे त्याग का पाठ का पाठ पढना चाहिए।

(VI) **अध्यवसाय** – रत्नाकर में अनेक रत्न हैं, पर यदि हमें एक हीं डूबकी में रत्न न मिले तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि रत्नाकार रत्नहीन है। इसी प्रकार यदि थोड़ी साधना करने से ईश्वर के दर्शन न हों तो निराश न होकर धैर्य धारण करना चाहिए। कभी–न–कभी ईश्वर की कृपा अवश्य होगी।

(VII) **व्याकुलता** – जिस प्रकार सती का मन पति की ओर, कृपण का मन धन की ओर और विषयी का मन विषय की ओर होता है, उसी प्रकार भक्त का मन भगवान की ओर लगा होना चाहिए। व्याकुलता भक्ति और भगवान के बीच की दूरी को समाप्त कर देती है। श्री रामकृष्ण देव ने व्याकुलता – अकेले में ईश्वर के लिए रोना– पर बहुत बल दिया है।

(VIII) **विवेक** – क्या सत् है, और क्या असत् इसका सम्यक् बोध, ''विवेक'' है। सत् अनुकरणीय है एवं असत् त्याज्य है। एक प्रकार से साधनाचतुष्ट्य का नित्यानित्य वस्तु विवेक ही है। इसे समझाने के लिए श्री रामकृष्ण ने चार उदाहरण दिये हैं। प्रथम उदाहरण हंस का है। हंस के अन्दर इतना विवेक होता है कि वह जल मिश्रित दूध में दूध को तो ग्रहण कर लेता है और जल को त्याग देता है। इसी प्रकार चींटी, बालु मिश्रित चीनी में चीनी को तो ग्रहण कर लेती है पर बालू का परित्याग कर देती है। बतख दिन–रात जल में रहकर भी उससे अलिप्त रहता है , इसी प्रकार मछली कीचड़ में रहते हुए भी चाँदी की तरह चमकती है। मनुष्य

को वैसे ही निर्लिप्त और विवेकशील होना चाहिए।

मोक्ष मार्ग के अधिकारी का लक्षण देते हुए वे कहते हैं कि वे सभी लोग ज्ञान, कर्म एवं भक्ति इन तीनों के समन्वय का प्रयास किये हैं। ज्ञान–योग एवं भक्ति–योग दोनों ही सत्य है। सभी मार्गों के द्वारा ईश्वर के निकट पहुँचा जा सकता है।[1] अद्वैत वेद्वान्त की "अध्यारोप" और "अपवाद" की पद्धति का भी अनुसरण कर पहले "नेति–नेति" द्वारा[2] सब जागतिक पदार्थो में से ईश्वर–बुद्धि को हटा लेने का निर्देश उन्होंने किया। तत्पश्चात **"सर्व खल्विद ब्रह्म"** महावाक्य के अनुसार आचरण करने की प्रेरणा दी और इसके साथ भक्ति–स्नेह को हाथों में लगाकर संसार–कटहल को[3] काटने का तथ्य भी उन्होंने अपने "वचनामृत" द्वारा पुनः पुनः उद्‌घाटित किया। निष्काम कर्म से ईश्वर प्राप्ति का संदेश भी उन्होंने यदा–कदा दिया है।[4]

2 (III) श्रीरामकृष्ण की ज्ञान–मार्गी साधना –

अद्वैत मत के प्रभाव में ज्ञान मार्ग की साधना को स्पष्ट करते हुए श्री रामकृष्ण देव कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञान–मार्ग पर चलते हुए सत्य के विषय में सदा 'नेति–नेति' (यह नहीं, यह नहीं) विचार करता रहता है। ब्रह्म यह नहीं है, वह नहीं है, वह जगत् नहीं है, जीव नहीं है इस प्रकार विचार करते हुए मन स्थिर हो जाता है। फिर वह (मन) लीन हो जाता है और साधक समाधि में मग्न हो जाता है।[5] जब तक भगवान

[1] रामकृष्ण वचनामृत (प्रथम भाग), पृ0 61।

[2] वही (प्रथम भाग) पृ0 156।

[3] वही, पृ0 9।

[4] वही, पृ0 69।

[5] श्री रामकृष्ण देव की वाणी – (एकादश सस्करण) – रामकृष्ण मठ, नागपुर पृ0–22

बाहर तथा दूर प्रतीत होते हैं तब तक वह अज्ञान है परन्तु, जब अपने अन्तर में उनका अनुभव होता है तब यथार्थ ज्ञान का उदय होता है। जो अपने हृदय मंदिर में उन्हें देखता है वही उन्हें जगत्–मंदिर में भी देखता है। जब तक आदमी समझता है कि भगवान 'वहाँ' हैं तब तक वह अज्ञानी है, परन्तु जब वह अनभुव करता है कि भगवान यहीं है तभी उसे ज्ञान प्राप्त होता है।[1] ज्ञान, कर्म और भक्ति इन तीनों मार्गों के प्रति श्री रामकृष्ण देव की प्रवृत्ति समन्वयवादी होने पर भी भक्तिमार्ग ही उन्हें अत्यधिक अभीष्ट था। ज्ञानमार्ग की कठोरता एवं दुर्गमता की चर्चा उन्होंने यत्र–तत्र की है।[2] ज्ञानी के विषय में उनके विचार थे कि ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मदर्शन की अवस्था में अधिक दिन तक स्थित नहीं रह सकता।[3] ज्ञान को उन्होंने उस पुरुष के समान बतलाया है जो घर के बाहर की वार्ता ही बता सकता है। भक्ति उस स्त्री के समान है जो अन्तःपुर के समाचार देने में भी समर्थ है।[4] ईश्वर को भक्ति उतनी ही प्रिय है जितनी बैल को सानी।[5] भगवद्गीता की भाषा में वे कहते हैं कि "भक्तों के हृदय में ईश्वर विशेष रूप से निवास करता है।"[6] ईश्वर–दर्शन में भक्ति की अनिवार्यता प्रतिपादित करते हुए उन्होंने कहा है– "जब तक प्रेमा–भक्ति अथवा राग भक्ति न होगी तब तक ईश्वर नहीं मिलेगा। भक्ति से ही उसके दर्शन हो सकते हैं, परन्तु यह भक्ति पक्की प्रेमा– भक्ति होनी

[1] वही, पृ.0 सं. 23
[2] रामकृष्ण वचनामृत (प्रथम भाग), पृ0 182, 187, 320।
[3] वही, पृ0 142।
[4] परमंहस चरित – स्वामी विवेकानन्द, पृ0 103।
[5] रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृ0 210।
[6] वही, पृ0 119।

चाहिए। इस भक्ति द्वारा ही उस पर ऐसी प्रीति होती है, जैसे बच्चे को माँ पर और पत्नी को पति के प्रति होती है।'[1]

(3) विवेकानन्द की साधना का स्वरूप –

विवेकानन्द कहते हैं कि – ''विश्व के लिए वह सबसे अधिक दुर्भाग्य का दिन होगा जिस दिन सम्पूर्ण मानव-जाति एक ही धर्म और एक ही प्रकार की साधना-प्रणाली को स्वीकृत कर लेगी।[2] इस उद्घोष के साथ उन्होंने ने साधनों के प्रति समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति एवं प्रवृत्ति के अनुसार किसी भी मार्ग का अनुसरण कर लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। यह निश्चित नही है कि एक व्यक्ति द्वारा निर्दिष्ट मार्ग दूसरे के लिए भी उसी प्रकार उपयोगी सिद्ध होगी। साधनों के समन्वयात्मक स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा कि 'जिसमें ज्ञान, भक्ति और योग का सुन्दर सम्मिश्रण हो, वही सर्वोत्तम कोटि का चरित्र है।' साधक रूपी पक्षी के उडने के लिए तीन अंगों की आवश्यकता होती है, जिसमें ज्ञान और भक्ति ये दो पंख है एवं योग है सामंजस्य बनाए रखने वाला पूँछ।[3] आचार्य शंकर मोक्ष के लिए एकमात्र ज्ञान को ही परम् साधन मानते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुयायी होते हुए भी स्वामी विवेकानन्द ने मोक्ष के लिए ज्ञान, भक्ति, कर्म और राजयोग इन चार मार्गो का विधान किया है। यहाँ स्वामी जी के प्रतिपादन में कुछ विरोध-सा प्रतीत होता है। प्रश्न उठता कि अद्वैत वेदान्त का अनुयायी होते हुए भी स्वामी जी ने भक्ति को क्यों महत्व दिया? क्या भक्ति जो कि मानवीय मानसिक कल्पनाओं पर आधारित है, निरपेक्ष और निर्गुण तत्व की प्राप्ति में पूर्णतः सहायक हो सकती है? क्या भक्ति द्वैत

[1] रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृ0 186-87।

[2] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 4, पृ0 291।

[3] वही, खण्ड 3, पृ0 33।

का नाश करने में समर्थ हो सकती है, जबकि द्वैत के बिना भक्ति का अस्तित्व ही संभव नही है ?

ऐसा लगता है कि यहाँ स्वामी जी का शांकर मत से विरोध है जिसका परिहार आवश्यक है। स्वामी जी भी सिद्धान्तः अद्वैत मत से सहमत हैं। उन्होंने भी साधन के रूप में ज्ञान की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है। एक स्थल जगह पर जीवात्मा की बद्ध-अवस्था को एक रूपक द्वारा समझाते हुए वे कहते हैं कि ''पूर्ण शुद्ध रूप आत्मा मानो एक पहिया है और शरीर मन रूपी दुसरा पहिया। ये दोनों कर्म रूपी लकड़ी द्वारा जुडे हैं। इस लकड़ी को काटने वाला ज्ञान है।[1] स्वामी जी के अनुसार भी परमावस्था वही है जिसे अद्वैत वेद्वान्त ने मान्य किया है। **''जहाँ-जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का, 'मैं', और 'तुम' का एवं समस्त द्वैत का लोप हो, वहीं परमात्मा है''।**[2] यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु विरोध का प्रारम्भ कहाँ से होता है, यह जान लेना चाहिए। मोक्ष दो प्रकार के फल ये युक्त है- प्रथम है, परिहारात्मक जिसमें आत्मा संकुचित, सीमित एवं स्वार्थयुक्त दृष्टियों से मुक्त हो प्राकृतिक सीमाओं से दूर हो जाती है, द्वितीय फल है विधेयात्मक, जिसमें अद्वैत वेदान्तानुसार आत्मा ब्रह्म भाव-युक्त हो अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है। इस विधेयात्मक फल के स्वरूप पर ही विभिन्न आचार्यो में मतभेद हैं एव इसी फल की दृष्टि से सारूप्य, सायुज्य, सामीप्य एवं सालोक्यादि भेद से मुक्ति चार प्रकार की मानी गयी है। इन्हीं भेदों को समक्ष रखकर विभिन्न आचार्यो ने पृथक् साधनों का विधान किया है। मुक्ति के प्रथम स्वरूप के विषय में सभी आचार्य एकमत हैं। स्वामी जी भी मोक्ष के लिए जब विभिन्न धर्मो का विधान करते हैं तो वहाँ उनका तात्पर्य मोक्ष के प्रथम

[1] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द खण्ड2, पृ0 281।

[2] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 3, पृ0 40।

स्वरूप से ही है। मुक्ति के विषय में अपने विचार स्पष्ट करते हुए स्वामी जी ने अनेक स्थलों पर यह कहा कि– सीमित और स्वार्थयुक्त संसार का त्याग ही मुक्ति है।[1] अतः जो भी मार्ग इस संकुचित सीमा से देश–काल निमित्त के बन्धन से निकालने में समर्थ हो, वही योग है। इसी दृष्टि से विवेकानन्द ने कर्मयोग, राजयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग को साधन मार्ग के रूप में स्वीकृत किया है। गीता की भाँति इन योग त्रय का समन्वय करके इसे मानव को जीवन में व्यवहृत करने का संदेश भी देते हैं। अद्वैत वेदान्त की विचारधारा **''ऋते ज्ञानाम मुक्ति''** को स्वीकार करते हुए दोनों महापुरूषों ने ज्ञानयोग को श्रेष्ठ माना है।

परमहंस देव कहते हैं कि ज्ञानयोग के द्वारा जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। **ज्ञान तीन प्रकार होता है। प्रथम** 'संसारिक व्यक्तियों का ज्ञान' है, जिसकी तुलना कमरे के लालटेन की रोशनी से की जा सकती है जो केवल कमरे को प्रकाशित कर सकती है, बाहर के वस्तुओं को नहीं। **द्वितीय** श्रेणी के ज्ञान के अन्तर्गत 'भक्तों का ज्ञान' आता है, जिसकी तुलना चन्द्रमा की रोशनी से की जा सकती है जो कमरे के भीतर और बाहर दोनों ओर वस्तुओं को प्रकाशित करती है। **तीसरा** ज्ञान 'अवतारी पुरूषों का ज्ञान' है, जिसकी तुलना सूर्य की रोशनी से की जा सकती है जो गहनतम अन्धकार को एक साथ दूर कर सकती हैं।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि उच्चतर ज्ञान क्या है? श्री रामकृष्ण देव कहा करते थे कि जिस व्यक्ति को अपनी आत्मा का ज्ञान हो गया उसे जगत् और ईश्वर का भी ज्ञान हो गया। जिस प्रकार प्याज के भीतर सब छिलका ही छिलका होता है, उसके भीतर कोई सारतत्व नही होता, उसी

[1] Complete Works of Swami Vivekanand, Vol I, p 95-96

प्रकार अहं (म्हव) में भी कोई वास्तविकता नहीं होती , सब छिलका ही छिलका होता है। अहं के दूर हो जाने पर भीतर और बाहर का भेद मिट जाता है और सर्वत्र ईश्वर ही दिखाई पडने लगते हैं। गीता में भी ऐसा ही कहा गया है।[1]

इस सम्बन्ध में एक लघु कथा है। एक व्यक्ति को हुक्का पीने की आदत थी। वह आदमी हुक्का जलाने के लिए आधी रात को लालटेन लेकर सबके दरवाजे खटखटाता रहा। दरवाजा खोलने पर एक व्यक्ति ने कहा 'भाई! तुम व्यर्थ सबका दरवाजा खटखटा रहे हो। तुम्हारे पास जो लालटेन है उसी से अग्नि पैदा कर अपने हुक्के को जला सकते हो।' इसी प्रकार भगवान स्वयं हमारे पास विद्यमान हैं, इस बात को न जानकर हम उन्हें दर–दर ढूँढ़ते हैं। ज्यों ही हमें इस बात की जानकारी हो जाती है कि भगवान हृदयस्थ हैं, हमें ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, जो मोक्ष का कारण है।[2]

जगत् के द्वन्द्वात्मकता को स्वीकार करने के कारण रामकृष्ण और विवेकानन्द दोनों ने विचार को दो प्रकार का माना है– **'अनुलोम'** और **'विलोम'**। अनुलोम विचार एक विश्लेषणात्मक विचार है, जिसमें हम कार्य से कारण की ओर जाते हैं। इसके विपरीत विलोम विचार वह है जिसमें हम कारण (ब्रह्म) से कार्य (जगत्) की ओर अग्रसर होते हैं। यह संश्लेषणात्मक विचार है। व्यवहार में दोनों की उपयोगिता है।[3]

पर इस कलियुग में ज्ञान–योग का अनुष्ठान बहुत ही कठिन कार्य है। ज्ञानी वही हो सकता है जिसकी देहात्म बुद्धि समाप्त हो गई हो।

[1] यो मां पश्यति सर्वत्रा सर्वं मयि च पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे पणश्यति।। गीता 6/30

[2] श्री रामकृष्ण उपदेश, पृ0 226-26।

[3] वही, पृ0 226।

जिसने आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य को समझ लिया है और शरीर से आत्मा की पृथकता का अंकन कर लिया है वही ज्ञान–योगी हो सकता है। जिस व्यक्ति की बुद्धि विषयों, इन्द्रियों, मन, बुद्धि में रम रही हो, वह ज्ञान–योगी कभी नहीं हो सकता।

एकत्व ज्ञान केवल शुद्ध ज्ञान एवं दर्शन से ही प्राप्त नहीं होता। वह प्रेम द्वारा भी प्राप्त होता है।[1] ऊपर जिस विरोध की चर्चा अभी की गई थी उसके विषय में स्वामी जी स्वयं भी यह स्वीकार करते हैं कि भक्ति का प्रारम्भ द्वैत से ही होता है परन्तु साथ ही इसका परिहार करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि परमार्थ में पहुँचकर प्रेम, भक्त एवं भगवान में कोई अन्तर नही रहता।[2]

गीता में ज्ञानयोग के सन्दर्भ में कहा गया है कि –

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।[3]

3 (1)– विवेकानन्द के अनुसार ज्ञानयोग –

स्वामी विवेकानन्द ने भावुकता से शून्य व्यक्तियों के लिए ज्ञानयोग का विधान किया है।[4] आचार्य शंकर के समान स्वामी जी ने भी **श्रवण**, मनन एवं निदिध्यासन का महत्व प्रतिपादित किया।[5] ज्ञान–योगी का ध्यान **निषेधात्मक** एवं **विधेयात्मक** भेद दो प्रकार का होता है। प्रथम, उन गुणों के निषेधात्मक स्वरूप का ध्यान करना चाहिए जो आत्मा के नहीं हैं और

[1] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 3, पृ0 282।

[2] वही, खण्ड 3, पृ0 100।

[3] गीता, 4/28।

[4] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 8, पृ0 3।

[5] वही, खण्ड 5, पृ0 322।

द्वितीय, आत्मा के सत्–चित्–आनन्द...... .स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। श्रवणादि का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए स्वामी जी विचारों के महत्त्व को विशेष रूप से स्वीकार करते हैं। विचार ही हमारी कार्य–प्रवृत्ति के नियामक हैं।[1] जैसा हम सोचेंगें, वैसा ही बन जाएंगे । अतः आदर्श के सम्बन्ध में जितना हो सके, सुनना होगा । तब तक सुनना होगा जब तक वह हमारे शरीर के अणु परमाणु में व्याप्त नहीं हो जाता और जब तक हमारे रक्त में प्रवेश कर एक–एक बूँद में घुलमिल नहीं जाता।[2] वस्तुतः **ब्रह्मात्मैक्य के ज्ञान का ही नाम मोक्ष है**। वही पारमार्थिक अवस्था एवं मोक्ष का परम् साधन है। ज्ञान का तात्पर्य स्वामी जी अद्वैत वेदान्त के समान यह बतलाते हैं कि यह ज्ञान इन्द्रियजन्य नही है। परन्तु ''अहं ब्रह्मास्मि' का अपरोक्ष ज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् साधन है।

यद्यपि स्वामी विवेकानन्द ने सभी प्रकार के योगों का अनुष्ठान किया था पर उनकी ज्ञानयोग में विशेष निष्ठा थी। गीता में भी कहा गया है कि –

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

ज्ञानं लब्ध्वा परांशान्ति मचिरेणाधिंगच्छति।।[3]

वे योग को एक विज्ञान मानते थे। जिसके लिए विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। योग के विषय में जो इतनी गुह्यता प्रदर्शित की जाती है, वे इसे बिल्कुल पसन्द नही करते थे। वे कहते थे– ''योग के विषय में यदि कोई गुप्त या रहस्यमय बात हो तो उसे छोड़ देना

[1] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 8, पृ0 19।

[2] वही, खण्ड 2, पृ0 152।

[3] गीता, 4/39।

चाहिए। रहस्य–व्यापार मानवीय मस्तिष्क को दुर्बल बना देता है। इसने योग को जो कभी एक उच्चतम विज्ञान था, बिल्कुल नष्ट कर दिया।"[1]

स्वामी विवेकानन्द बुद्धियोग या ज्ञानयोग में विश्वास करते थे। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि वे बुद्धि या तर्क की सीमाओं से सर्वथा अपरिचित थे। बुद्धि के तर्कों में चक्रक दोष पाया जाता है "बल क्या है? बल वह है जो जड़ पदार्थ को गति प्रदान करता है। जड़ पदार्थ क्या है? वह जो बल द्वारा गतिशील होता है। ज्ञान–विज्ञान की उपलब्धियों के बावजूद हमारा तर्क विचित्र होता है। यह सिर के बिना सिर–दर्द है।"[2]

स्वामी विवेकानन्द यह भी स्वीकार करते हैं कि बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान सदा सैद्धान्तिक ही होता है, जो हमें पूर्ण सन्तोष प्रदान नही कर सकता। एक मानचित्र हमें किसी स्थान के विषय में भले ही विशद् और सही सूचना दे, पर वह उस ज्ञान की अपेक्षा सर्वथा अपूर्ण व अवास्तविक होगा जो उस स्थान के निरीक्षण से प्राप्त होता है। इस प्रकार सैद्धान्तिक ज्ञान की अपेक्षा व्यक्तिगत साक्षात्कार का विशेष महत्व है।

3 (ii) भक्तियोग और ज्ञानयोग का अन्तर –

विवेकानन्द के अनुसार भक्तियोग और ज्ञानयोग मे अन्तर यह है कि ईश्वर में प्रेम होने पर आत्म–नियन्त्रण स्वतः ही उत्पन्न हो जाता है। पर ज्ञानयोग तब तक संभव नहीं हो सकता जब तक कि किसी व्यक्ति ने प्रथमतः आत्मनियंत्रण न स्थापित कर लिया हो। आत्मनियंत्रण ज्ञान योग की प्राग्पेक्षा है।

सांसारिकता और कर्मफल से बचने के लिए भक्ति अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार कटहल छीलने के पहले हाथ में तेल लगा लेना आवश्यक

[1] सेलेक्टेड वर्क्स, पृ0 92।
[2] व्यवहारिक आध्यात्मिकता पर संकेत।

होता है नहीं तो उसका दूध पूरे हाथ में चिपक जाता है, ठीक उसी प्रकार कर्म फल से बचने के जिए मनुष्य को भक्तियुक्त होना अनिवार्य है। ज्ञान भी शक्ति का ही एक रूप है। भक्ति चन्द्रमा की तरह शीतल है और ज्ञान सूर्य के समान प्रखर। जिस प्रकार कभी-कभी चन्द्रमा के डूबने से पहले हीं सूर्य का उदय हो जाता है उसी प्रकार भक्ति और ज्ञान भी साथ-साथ रह सकते हैं।

भगवान् के साक्षात्कार के लिए भी भक्ति आवश्यक है। श्री रामकृष्ण देव कहते हैं कि सादे काँच में किसी वस्तु का चित्र नहीं उतरता परन्तु यदि रासायनिक द्रव्य लगा हो तो फोटो स्पष्ट रूप से उतर जाता है। इसी प्रकार यदि शुद्ध मन में भक्ति रूपी रसायन लगा हो तो भगवान् का रूप स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। भक्ति के बिना शुद्ध मन में भी भगवान का रूप स्पष्ट नहीं दिखाई दे सकता।[1] भक्ति के पूर्व आत्मनियंत्रण की कोई आवश्यकता नही है। श्री भगवान के चरण-कमलों में भक्ति होने से विषय-कर्म अच्छे नहीं लगते । मिश्री का शर्बत पीनेके बाद फिर गुड़ का शर्बत कोई नहीं पीना चाहता।[2] एक कवि ने भक्ति की उपमा एक शेर से दी है। जिस प्रकार शेर जानवरों को अनायास उदरस्थ कर जाता है, उसी प्रकार भक्ति साधक के विरोधियों अर्थात् वासना, काम, क्रोध, लोभ इत्यादि विकारों को नष्ट कर देती है।[3]

भगवान् एक है, पर साधक और भक्तगण भिन्न-भिन्न भाव व रूचि के अनुसार उनकी उपासना किया करते हैं। एक ही दूध से कोई रबड़ी तो कोई पेड़ा बनाकर खाता है, इसी प्रकार जिनकी जैसी रूचि होती

[1] श्री रामकृष्ण उपदेशः हि0 अनुवाद, पृ0 88।

[2] श्री रामकृष्ण उपदेशः हि0 अनुवाद, पृ0 90।

[3] वही, अं0 अनुवाद, पृ0 234।

है, वे उसी भाव से भगवान का साधन भजन तथा उनकी उपासना करते हैं।

प्रेम तीन प्रकार का होता है: **'समर्थ', 'सामंजस'** आर **'साधारण'**। समर्थ प्रेम 'निःस्वार्थ प्रेम' होता है, जिसमें प्रेमी अपने विषय में कुछ न सोचकर केवल प्रेमास्पद के कल्याण के विषय में ही सोचता है। सामंजस प्रेम पारस्परिक होता है, जिसमें प्रेमी अपना और प्रेमास्पद दोनों का कल्याण देखता है। साधारण प्रेम निकृष्टतम प्रेम है जिसमें प्रेमी प्रेमास्पद का विचार न करके अपनी हीं स्वार्थ साधना करना चाहता है। समर्थ प्रेम उच्चतम कोटि का प्रेम है जो भगवान के प्रति होना चाहिए।[1]

जिस प्रकार सांसारिकता के तीन पक्ष होते हैं– सत्व, रजस और तमस, उसी प्रकार **भक्ति भी तीन प्रकार की होती है– सात्विक, राजसिक एवं तामसिक।** सात्विक भक्ति में सरलता होती है। सात्विक भक्त एकान्त में भगवान की भक्ति करता है। राजसिक भक्ति में बाह्याडम्बर का विशेष स्थान होता है, जिसमें भक्त त्रिपुंड, रूद्राक्ष व एक विशेष उत्तरीय का प्रयोग करता है। तामसिक भक्ति में शक्ति का प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार कोई डाकू बलपूर्वक दूसरों की वस्तुओं का अपहरण कर लेता है, उसी प्रकार तामसिक भक्त अपने को ईश्वर का पुत्र घोषित कर ईश्वर द्वारा उत्पन्न किसी वस्तु का अपहरण कर लेता है।[2]

श्री रामकृष्ण देव ने साधना के छः सोपानों का वर्णन किया है: **(1) साधु–संग, (2) श्रद्धा, (3) निष्ठा (4) भक्ति (5) भाव और (6) महाभाव।** महाभाव की अवस्था में प्रेमी पागलों की तरह उन्मुक्त होकर हँसने, रोने और गाने लगता है। इसके बाद साधना की **सातवीं**

[1] श्री रामकृष्ण उपदेशः हि0 अनुवाद, पृ0 236।
[2] श्री रामकृष्ण उपदेशः हि0 अनुवाद, पृ0 237।

अवस्था आती है, जिसे **'प्रेम'** कहते है। प्रेमावस्था में आत्मा, शरीर और जगत् तीनों का लोप हो जाता है और मनुष्य का ईश्वर के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो जाता है। इन सातों भक्तियों का समाहार करते हुए परमहंस जी ने उनको दो भागों में विभाजित 'क्रिया-विधि-भक्ति' और 'राग-भक्ति'। विधि-भक्ति नियम पूर्वक की जाती हैं तथा राग-भक्ति प्रखर प्रेम द्वारा उत्पन्न होती है। इसे **'पराभक्ति'** भी कहते हैं।

ज्ञानी और भक्त में अन्तर यह है कि ज्ञानी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म में लीन हो जाना चाहता है पर भक्त अपने समक्ष भगवान् के अस्तित्व को बनाए रखना चाहता है। ज्ञानी की उपमा बन्दर के बच्चे (मर्कट शिशु न्याय) से दी गई है, जो स्वयं अपने मोक्ष की व्यवस्था करता है। इसके विपरीत भक्त की उपमा बिल्ली के बच्चे (मार्जार शिशु न्याय) से दी गई है जो अपने को पूर्णरूप में अपनी माँ को समर्पित कर देता है। ज्ञानी का पतन तो संभव है पर भक्त का पतन नहीं होता। ज्ञान पुरूष है और भक्ति नारी। ज्ञानरूपी पुरूष की पहुँच ईश्वर के बैठक तक ही हो सकती है पर भक्तिरूपी नारी ईश्वर के घर के भीतर भी प्रवेश कर सकती है।[1]

स्वामी विवेकानन्द ने भक्ति-मार्ग को स्वाभाविक एवं सहज मार्ग बतलाया है। समाज में अधिकांश व्यक्ति द्वैतवादी हैं। वे सहज रूप में ब्रह्म के निर्गुण एवं अमूर्त स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित करने में असमर्थ हैं। अत. उनके लिए भक्ति ही सरल एवं सहज मार्ग है।[2] भक्त को गिरने की सम्भावना नहीं रहती जब कि ज्ञानयोग की साधना कठिन भी है एवं उसमें पतन की सम्भावना बनी रहती है।[3] इसके अतिरिक्त भक्ति-मार्ग का एक अन्य महत्त्वपूर्ण लाभ यह भी है कि उसमें विश्व-बन्धुत्व या

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश (हिन्दी अनु0), पृ0 252।

[2] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 3, पृ0 357।

[3] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 3, पृ0 77।

विश्व–प्रेम की उपलब्धि जितनी सरलता से हो सकती है उतनी अन्य किसी मार्ग से नहीं।'' जो परम पिता की सन्तान हैं वे सभी भक्त को पवित्र प्रतीत होने लगते हैं। दूसरों को प्यार किए बिना कोई भक्त कैसे रह सकता है?''[1] जब मनुष्य भक्ति की उक्त अवस्था में पहुॅच जाता है तब मनुष्य उसे भगवान के रूप में दिखने लगता है।[2]

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार **आध्यात्मिक अनुभूति के निमित्त किए जाने वाले मानसिक प्रयत्नों की परम्परा या प्रक्रिया का ही नाम 'भक्ति' है।** उसका प्रारम्भ साधारण पूजा–पाठ से होता है और अन्त ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ एवं अनन्य प्रेम से।[3] श्री रामानुज के समान स्वामी जी ने भी **भक्ति के सात साधन** बतलाए हैं, वे हैं– **विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद** और **अनुद्धर्ष**। भक्ति दो प्रकार की होती है।[4] इनमें 'वैधी' वह है, जिसमें शंकाहीन होकर श्रुति का अनुसरण किया जाय।[5] दूसरी है, 'रागानुगा' जो पॉच प्रकार की है– **शास्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य** एवं **माधुर्य।** भक्ति–जनित प्रेम में तीन गुण आवश्यक रूप से होना चाहिए। **प्रथम** यह कि प्रेम निःस्वार्थ होना चाहिए। **दूसरे** यह कि प्रेम को भय–रहित होना चाहिए। ईश्वरीय दण्ड के भय से जो प्रेम हो वह निकृष्ट कोटि का है। प्रेम और भय का परस्पर विरोध है। सच्चे प्रेम का **तीसरा** लक्षण यह है कि वह प्रतिद्वन्दी पात्र से रहित हो। इस प्रकार भक्त का अपने आदर्श के प्रति अनन्य प्रेम का होना आवश्यक है।

[1] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 3, पृ0 82।
[2] वही, पृ0 82।
[3] वही, पृ0 36।
[4] वही, खण्ड 5, पृ0 78।
[5] वही, पृ0 78 ।

(4) श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द का व्यावहारिक साधन मार्ग–

श्री रामकृष्ण देव कहते हैं कि कर्मयोग के द्वारा भी ईश्वर–लाभ किया जा सकता है। निष्काम भाव से गृहस्थ द्वारा किया गया कर्म कर्मयोग है। ईश्वर को समर्पित करके किए गए कर्म भी कर्मयोग के भीतर आते है। अष्टांग योग कर्मयोग है। पर निष्काम कर्म इतना सरल नहीं है जितना लोग समझते हैं। यदि कर्म के साथ भक्ति हो तो कर्मयोग पर्याप्त सरल हो जाता है। हरि–कीर्तन, सभी जीवों के प्रति प्रेमभाव तथा भक्तों की सेवा, ये सभी कर्मयोग के भीतर आ जाते हैं। हम कर्म किए बिना नहीं रह सकते क्योंकि कर्म करना तो हमारा स्वभाव ही है। पर निष्काम कर्म करना चाहिए तभी ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। कर्म साधना है, तथा ईश्वर साध्य।

ब्रह्मज्ञानी और ईश्वर–भक्त के लिए कर्म की आवश्यकता नहीं होती। संध्या के बाद गायत्री, गायत्री के बाद प्रणव व प्रणव के बाद समाधि होनी चाहिए। समाधि में सारे कर्म समाप्त हो जाते हैं।

स्वामी जी ने साधन मार्ग के रूप में कर्मयोग का भी महत्व स्वीकार किया है। **कर्मयोग का अर्थ है कुशलता के साथ अर्थात् वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा कार्य की विधि।**[1] कर्मयोग प्रथम तो समस्त व्यक्तिगत कार्यों को फलाभिलाषा से रहित होकर करने का विधान करता है, क्योंकि फलों में आसक्ति रखने से मन की शक्ति नष्ट हो जाती है।[2] गीता में भी कर्मयोग के सन्दर्भ में कहा गया है कि–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन,

[1] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड एक, पृ0 97।

[2] कर्मयोग, पृ0 15।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्माते सगेऽस्त्वकर्मणि।।[1]

अतः मन, मस्तिष्क एवं इन्द्रियादि से कार्य तो करना चाहिए परन्तु उन पर उसका प्रभाव नहीं पड़ने देना चाहिए। शनैः शनैः समस्त व्यक्तिगत एवं स्वार्थयुक्त कर्मों का त्याग कर केवल परार्थ कर्म करना ही उचित है। परार्थ किया हुआ निःस्वार्थ कर्म कदापि बन्धनकारी नही हो सकता।[2] यही मुक्ति–लाभ का अर्थ है। कार्य–कारण में या देशकाल में सीमित होकर, क्षुद्र शरीर की कामनाओं की तृप्ति के लिए किया गया कर्म ही बन्धक होता है। जो कार्य स्वाधीन होकर अनन्त के लिए किया जाएगा वह न बन्धक होगा न सीमित। स्वामी जी ने कर्म फलासक्ति को त्यागने का उपाय फलों को ईश्वरार्पित करना बतलाया है।[3]

स्वामी जी साधन क्रम में राजयोग को भी उपयोगी बतलाते हैं। **योग के यम नियमादि अष्टाँगो का क्रमिक पालन करते हुए एवं मन की समस्त शक्तियों को अन्तर्मुखी बनाते हुए आत्म–स्वरूप को अवभासित करने का जो मार्ग है वही राजयोग है।**[4] इस मार्ग में अमरता की प्राप्ति के लिए 'मन' तथा "शरीर" के पूर्ण नियन्त्रण एवं अनुशासन की बात की जाती है। वैसे, इस प्रकार की बात अन्य मार्गो में भी है, विशेषतः ज्ञान–मार्ग में तो है ही। किन्तु यहाँ एक विशेष प्रकार के नियन्त्रण की बात होती है, इसमें शरीर और मन को नियन्त्रित करने के लिए कुछ स्पष्ट विधियाँ अनुशंसित है, विभिन्न आसन तथा प्रत्याहार के ढ़ंग अनुशंसित है तथा मान्यता है कि इनके नियमतः कठोर पालन से ही चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।

[1] गीता 2–47।
[2] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड एक, पृ0 86।
[3] वही, खण्ड एक, पृ0 100।
[4] वही, खण्ड एक, पृ0 129–30।

इस प्रकार के मार्ग की नींव पतंजलि के ''योगसूत्र'' में है। उसे ही विभिन्न रूपों में विकसित कर विभिन्न यौगिक-क्रियाओं का विवरण होता रहता है । **राजयोग के आठ अंग इस प्रकार हैः**

(I) **यम** – 'अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-ये पाँच यम कहलाते हैं।

(II) **नियम** – 'शौच संतोष तपः स्वाध्यायेवश्र प्राणिधानानि नियमाः'– शौच, संतोष, तपस्या, स्वभाव और ईश्वरोपसना– ये पाँच नियम है।

(III) **आसन** – 'स्थिरसुखमासनम्' – स्थिर भाव से सुख पूर्वक बैठने का नाम आसन है।

(IV) **प्राणायाम**– ''श्वासप्रश्वासयोगतिविच्छेदः प्राणायाम'–श्वास और प्रश्वास दोनों की गति को संयत करना-प्राणायाम कहलाता है।

(V) **प्रत्याहार**– 'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणा प्रत्याहारः' – जब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को त्याग कर मानो चित्त का स्वरूप ग्रहण करती हैं, तब उसे प्रत्याहार कहते हैं।

(VI) **धारणा**– ''देशबन्धश्चितस्य धारणा''– चित्त को किसी विशेष वस्तु में धारणा करके रखने का नाम धारणा है।

(VII) **ध्यान** – 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' – वस्तुविषयक ज्ञान के निरन्तर एक रूप से प्रवाहित होते रहने पर उसे ध्यान कहते हैं।

(VIII) **समाधि** – 'तदेवार्थमात्र निर्मास स्वरूप शून्यमिव समाधिः' – वही ध्यान जब समस्त बाहरी उपाधियों को छोडकर अर्थ मात्र को ही प्रकाशित करता है, तब उसे समाधि कहते हैं।

समाधि दो प्रकार की होती हैः– **संप्रज्ञात** समाधि, जिसमें हम स्थूल

एवं सूक्ष्म वस्तुओं पर मन केन्द्रित कर उनका ज्ञान प्राप्त करते हैं। दूसरी **असंप्रज्ञात समाधि** है, जिसमें हम सम्पूर्ण चित्त-वृत्तियों का क्षय करके आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करते हैं। यही राजयोग की चरम परिणति है। इसी को **'कैवल्य'** (मोक्ष) कहते हैं।

स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि यह 'योग' शरीर तथा मन से दुर्बल व्यक्तियों के लिए नहीं है, क्योंकि इसमें शारीरिक एवं मानसिक बल तथा दृढ़ता की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार के कठोर अनुशासन एवं अभ्यास से योगी में कुछ विलक्षण शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं तथा वह ध्यान केन्द्रित करने की समर्थता प्राप्त कर लेता है। इसी विधि से उसे ईश्वर में लीन होने के लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

विवेकानन्द ने इन चार योग मार्गों का पृथक-पृथक विवरण दिया है। किन्तु वे यह भी कहते हैं कि इन सभी का लक्ष्य एक ही है- **अमरता की प्राप्ति** । ये लक्ष्य तक पहुँचने के विभिन्न मार्ग हैं । इन्हें चार पृथक मार्गों के रूप में प्रस्तुत करने का कारण यह है कि मनुष्यों में अभिरूचि, मनःस्थिति, मनोवृत्ति तथा क्षमता आदि की भिन्नता रहती है। यह सम्भव है कि किसी एक व्यक्ति के लिए ज्ञान-मार्ग असम्भव प्रतीत हो, तथा भक्तिमार्ग अपनी मनःस्थिति एवं क्षमता के अनुकूल प्रतीत हो। इसी कारण स्वामी जी कहते हैं कि हर व्यक्ति इन मार्गों में उसी मार्ग को अपना सकता है, जो उसकी अभिरूचि एवं क्षमता के अनुरूप हों। किन्तु वे यह स्पष्ट कहते हैं कि कोई मनुष्य किसी मार्ग को अपनाए, यदि वह उसका अनुशीलन, लगन एवं निष्ठा से करता है, तो वही मार्ग उसे उसके लक्ष्य तक ले जाएगा।

पुनः विवेकानन्द का यह भी कहना है कि मार्गो के पृथक-पृथक विवरण से यह धारणा नही बननी चाहिए कि ये मार्ग हीं एक दूसरे रे

सर्वथा पृथक हैं। स्वामी जी का कहना है कि ऐसा नहीं है कि "भक्तिमार्गी " को ज्ञान से कोई सम्बन्ध हीं नहीं तथा उसे कोई "कर्म" करने की आवश्यकता ही नहीं। वस्तुतः उसे भी निष्काम कर्म तो करना ही है। अतः इन मार्गो को एक –दूसरे से सर्वथा पृथक मार्ग नहीं समझना चाहिए। कुछ विशेष प्रकार के ढ़ंगों की प्रधानता एव प्रमुखता के आधार पर इन्हें अलग–अलग नाम दिया जाता है। उसका कारण मात्र यही है कि मनुष्यों में ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक प्रवृत्तियां एक समान नहीं रहतीं, किसी मनुष्य में भावनात्मकता की प्रधानता रहती है तो किसी में क्रियात्मकता की। इसी प्रधानता के अनुरूप उसे अपने मार्ग का चयन करना है। फिर यह अनिवार्यता तो है ही कि मार्ग वह चाहे जो चुने, उस मार्ग में अग्रसर होने के लिए उसे पूर्ण निष्ठा से, सम्पूर्ण शक्ति लगा देनी है। यह निष्ठा 'योग' का अनिवार्य उपादान है।

अद्वैत वेद्वान्त में निवृत्ति मार्ग को प्रधानता दी जाती है।[1] परन्तु, स्वामी विवेकानन्द ने आधुनिक युगानुकूल प्रवृत्ति मार्ग का विधान किया है। **'संसार का त्याग करो'** इसका रहस्य स्पष्ट करते हुए स्वामी जी ने कहा कि "संसार में रहो परन्तु सीमित, संकुचित और स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण मत रखो।" संसार में रहो, परन्तु संसार के होकर मत रहो। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमें आलसी होकर मिट्टी के ढ़ेले के भॉति पड़े रहना होगा। वेदान्त हमें कार्य से कभी विरत् नहीं करता। यदि मुक्त–पुरूष ही कार्य नही करेगा तो संसार का मार्ग कौन प्रदर्शित करेगा?[2] जो व्यक्ति भोग विलासों में मग्न है या जो संसार को कोसता हुआ वन को चला जाता है और वहॉं अपने को कष्ट देता तथा शरीर को धीरे–धीरे सुखाकर

[1] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 2, पृ0 149–50।

[2] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 8, पृ0 226।

अपने को मार डालता है, वह व्यक्ति लक्ष्य-भ्रष्ट और पथ-भ्रष्ट है।[1] "जब तुम्हारे लिए सभी ब्रह्म-भाव हो गया तब तुम्हें संसार छोडने की क्या आवश्यकता है? **'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च'** कर्म करना ही सन्यासी का वास्तविक लक्ष्य है।[2]

वस्तुतः स्वामी जी अद्वैत से सहमत हैं और साधन रूप में ज्ञान की श्रेष्ठता को भी उन्होंने स्वीकार किया है फिर भी वे मोक्ष प्राप्ति हेतु चारों मार्गों का विधान करते हैं। प्रश्न है कि ज्ञानमार्गी होते हुए भी उन्होंने भक्ति को क्यों स्वीकार किया? भक्ति बिना द्वैत भाव के सम्भव नहीं हो सकती । तो क्या, उनके विचारों में कहीं विरोध है? अतः यह जानना आवश्यक है विरोध का प्रारम्भ कहाँ से होता है? मोक्ष दो प्रकार के फल से युक्त है- **परिहारात्मक,** जिसमें आत्मा संकुचित, सीमित एवम् स्वार्थयुक्त दृष्टियों से मुक्त हो प्राकृतिक सीमाओं से दूर हो जाती है एवम् **विधेयात्मक** जिसमें अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा ब्रह्मभाव से युक्त हो स्वरूप में स्थित हो जाती है। इस विधेयात्मक फल के स्वरूप पर हीं विभिन्न आचार्यो में मतभेद है एवम् इसी फल की दृष्टि से सारूप्य, सायुज्य, सामीप्य एवं सालोक्यादि भेद से मुक्ति चार प्रकार की मानी गई है। इन्ही भेदों की समझ रखकर विभिन्न आचार्यो ने पृथक्-पृथक साधनों का विधान किया हैं। स्वामी जी मोक्ष के लिए जब विभिन्न मार्गो का विधान करते हैं, तो वहाँ उनका तात्पर्य मोक्ष के प्रथम स्वरूप से ही है। सीमित और स्वार्थयुक्त संसार का त्याग ही मुक्ति है, अतः जो भी मार्ग इस संकुचित सीमा से और देश, काल निमित्त के बन्धन से निकालने में समर्थ हो, वही योग है।

[1] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 2, पृ0 150।

[2] वही, खण्ड 4, पृ0 261।

निष्कर्ष–

रामकृष्ण और विवेकानन्द, दोनों के साधना के स्वरूपों में युगानुकूलता है। रामकृष्ण यदि साधना को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और परिस्थिति में उतारने का व्यवहारिक उपदेश देते हैं, तो वही विवेकानन्द इस व्यवहारिकता को सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित करते हैं। रामकृष्ण में यदि भक्तिभाव प्रधान है, तो विवेकानन्द में भक्ति–समन्वित कर्म एवं ज्ञान प्रधान है किन्तु, यह प्रधानता अन्य मार्गों के प्रति न तो विरोध प्रकट करती है और न हीं उनके अपने सिद्धातों से विसंगति। यह वस्तुतः आपस मे सम्पूरक होते हुए एक ऐसी समग्रता का निर्माण करते हैं जिसमें प्रत्येक अभिरूचि और मनःस्थिति के व्यक्ति का स्थान हो। इसमें अद्वैत वेदान्त व्यवहार रूप में प्रस्फुटित होता है। सिद्धान्त रूप में अद्वैत वेदान्त की साधना–पद्धति दुरूह है। साधन–चतुष्टय रूपी बहिरंग साधनों एवं श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूपी अंतरंग साधनों को एक साथ सम्यक्रूपेण आत्मसात् करना साधक के लिए आसान नहीं है। अतएव, विवेकानन्द जी ने रामकृष्ण देव रूपी सदगुरू के मार्गों का अनुकरण करते हुए कर्मयोग, राजयोग, भक्ति योग एवं ज्ञानयोग को साधन मार्गों के रूप में स्वीकार किया है। वेदान्त के निवृत्ति को उसके अनुरूप ही प्रवृत्तिपरक बनाने का उपक्रम स्वामी जी ने किया है जो सदा अनुकरणीय है।

5

जगत् मिथ्यात्व एवम् अद्वैत वेदान्तिक सृष्टि की अवधारणा -

1. शंकराचार्य के अनुसार जगत् एवं सृष्टि का विकास
   (i) जगत् का मिथ्यात्व,
   (ii) सृष्टि की उत्पत्ति,
   (iii) ब्रह्म-जगत् सम्बन्ध
2. श्री रामकृष्ण के अनुसार जगत् एवं सृष्टि
3. विवेकानन्द के अनुसार जगत् एवं सृष्टि
5. श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द के जगत् एवं सृष्टि- सम्बन्धी विचारों की समीक्षा

जगत् मिथ्यात्व एवं अद्वैत वेदान्तिक सृष्टि की अवधारणा

(1) शंकराचार्य के अनुसार जगत् एवं सृष्टि का विकास–

विशुद्ध ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान के प्रचारक आचार्य श्री शकर के समक्ष प्रश्न था कि जगत् क्या है? शंकराचार्य ने जगत् की तुलना एक महादर्पण से की है। "यह अविद्या कामना और कर्म से उत्पन्न हुए दुःखरूप जल तथा तीव्र रोग, जरा तथा मृत्यु रूप महाग्रहों से पूर्ण है। यह अनादि, अनंत, अपार एवं निरालम्ब है। विषय और इन्द्रियों से होनेवाला, अणुमात्र सुख ही इसकी क्षणिक विभ्रान्ति का स्वरूप है। इसमें पांचों इन्द्रियों की विषय तृष्णारूप पवन के विक्षोभ से उठती हुई अनर्थरूपी सहस्त्रों तरंगें हैं। इसमें सत्य, सरलता, दान, दया, शम, दम, धैर्य आदि जीव के गुणरूप पाथेय से भरी हुई ज्ञान रूप नौका है। सत्संग और सर्वत्याग ही इसमें नौकाओं के आने–जाने का मार्ग है तथा मोक्ष ही इसका सत् है।"[1]

यद्यपि जगत् का यह आलंकारिक वर्णन व्यवस्थित और पर्याप्त पूर्ण नहीं है, फिर भी इससे जगत् के विशिष्ट लक्षणों का अच्छा परिचय मिल जाता है। हम कह सकते हैं कि संसार के दो मुख्य पक्ष हैं– वस्तुगत और आत्मगत। इसके आत्मगत पक्ष के अंतर्गत मानसिक क्रियाएँ या दशाएँ आती हैं, जैसे– ज्ञान, अनुभूति, इच्छा या संकल्प तथा इन लक्षणों से संपन्न मनोवैज्ञानिक अहं। इसके वस्तुगत रूप में वह सब आता है जो जाना जाता है या जाना जा सकता है। कुछ स्थलों पर आचार्य शंकर ने जगत् घट्कों का वर्गीकरण स्थावर और जंगम अथवा अचर और चर में

[1] शांकर भाष्य, ऐतरेय उपनिषद् 1.2.1

भी किया है। अन्य स्थलों पर यह विभाजन श्रोक्ता ओर भोग्य अथवा सजीव और अजीव पदार्थों में किया गया है। इस प्रसंग में आद्य-गुरु पूज्यपाद् शंकर द्वारा किया गया ज्ञान के विस्तार और स्वरूप के आधार पर मनुष्य से उच्च और निम्न वर्ग के प्राणियों का विभाजन विशेष रूप से द्रष्टव्य है। वे कहते हैं, ''जैसे प्राविता के तुल्य रहने पर भी मनुष्य से स्तंब (तृण) पर्यन्त ज्ञान-ऐश्वर्यादि का उत्तरोत्तर अधिक प्रतिबन्ध होता हुआ दीखता है, उसी तरह मनुष्यादि से हिरण्यगर्भ पर्यन्त ज्ञान ऐश्वर्यादि की अभिव्यक्ति उत्तरोत्तर अधिक होती है।[1] उल्लेखनीय है कि आधुनिक विद्वान **श्री जे0सी0 बोस** से बहुत पहले प्राचीन भारतीय विद्वान विशेष रूप से आचार्य शंकर, पादपों में एक प्रकार का जीवन या अन्तः चेतना स्वीकार करते रहे हैं (अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुख-दुःख समन्विताः)।

1 (i) जगत् का मिथ्यात्व -

शंकर के अनुसार इस विशाल विश्व में भू आदि कई प्रकार के लोक विद्यमान हैं। प्रत्येक लोक के अलग-अलग लोकपाल हैं जिन्हें परमात्मा ने उन लोकों की रक्षा के लिए नियुक्त किया है। इससे विदित होता है कि शंकराचार्य के अनुसार यह विश्व मानसिक कल्पना नहीं है। में शंकर कहते हैं- 'मानवी कल्पना के द्वारा विश्व की रचना की बात तो दूर, कोई इसकी रचना और सुव्यवस्था के बारे में सोच भी नही सकता।'[2] अनेक कर्ता और उनके कर्म फल भोग के लिए देश, काल और निमित्त के आश्रय वाली वस्तुएं, गुण और संवृत्तियों से युक्त संसार को प्रतिनियत किया गया है। अतः वे जगत् और जगत् की वस्तुओं को मानसिक रचनाएं नहीं मानते। यहाँ प्रश्न उठता है कि स्वयं आचार्य शंकर का जगत्

[1] शांकर भाष्य- ब्रह्मसूत्र 1 3.30
[2] शां0 भा0 1.1.2

के प्रति क्या दृष्टिकोण है? शंकर का सर्वप्रथम मत यह है कि विश्व न तो किसी मनस की कल्पना है, न अचेतन प्रकृति का विकास है और न ही बुद्धिहीन परमाणुओं का परिणाम है। यह विश्व एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान परमात्मा के सचेतन की अभिव्यक्ति है। उसे इसकी रचना के लिए किसी उपादन, उपकरण अथवा सहायता की जरूरत नहीं पडती। ईश्वर रचित इस संसार में जो कुछ भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय है, वह सत् है। जगत् के प्रति आचार्य का दृष्टिकोण सामान्य रूप से वस्तुवादी है। वस्तुएं जैसी दिखती हैं, वास्तव में, वे वैसी ही है। सामान्य दृष्टि से जो देखने में आये, वह सत् है।[1] इसी दृष्टि से आचार्य शंकर ने दृश्यमान जगत् को सत् कहा है। पाश्चात्य दार्शनिक जार्ज बर्कले का समीकरण है कि सत्ता=दृश्यता। लेकिन यदि सत्ता दृश्यता है तो मरीचिका, रज्जु-सर्प या शुक्ति-रजत क्या है? इसके पक्ष-विपक्ष में चाहे जो भी कहा जाए संपक्ष यह है कि सामान्य वस्तुवाद बहुत विश्वसनीय नहीं है। कुछ असाधारण परिस्थितियों में इसका त्याग करना ही होगा। केवल प्रतीत होना सत् का मापदंड नहीं हो सकता। सत् होने के लिए प्रतीति के विषय को विद्यमान भी रहना चाहिए। पुनर्विचार में उसका मिथ्यात्व नहीं प्रगट होना चाहिए। सामान्य अनुभव की इसी धारणा का तार्किक-विकास करके आचार्य शंकर ने उद्घोष किया, 'सत्यत्वं त्रिकालाबाधित्वं।'[2] वे कहते हैं, ''यद् विषया बुर्द्धिर्न व्यभिचरित तत्सत्।''[3] ''सत्यामिति यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति''। स्पष्ट है कि आचार्य शंकर के अनुसार सत् वह है जिसके विषय में हमारी बुद्धि परिवर्तित न हो। किन्तु मूल प्रश्न यह है कि हम कैसे जानें की किसी वस्तु या घटना के विषय में हमारे विचार

[1] शंकर भाष्य बृहदारण्यक

[2] शां.भा., गीता, 2.16

[3] शां.भा , तैत्तिरीय, 2.1

सत्य है या नहीं? उत्तर है, उनके गुणों की परीक्षा करके। हम स्वप्न, मृग-जल या शुक्ति-रजत को मिथ्या इसलिए कहते हैं कि उनकी सत्ता केवल प्रातीतिक है। पुनर्विचार में उनके गुण परिवर्तित हो जाते हैं। अतः अपरिवर्तनीयता एवं अबाधत्व ही सत् का मापदण्ड है।

1 (ii) सृष्टि की उत्पत्ति –

सत्-असत् की यह धारणा शंकर के लिए कोई अनोखी बात नहीं है। सत् की यह धारणा समस्त आस्तिक साहित्य में परिव्याप्त है। माध्यमिक भी दृश्य-जगत् को सत् नहीं शून्य या असत् मानते हैं। शंकराचार्य के दादागुरू गौडापादाचार्य भी अजातिवाद के माध्यम से जगत्-मिथ्यात्व का समर्थन करते हैं। उनका मत है –

स्वप्न माये यथा दृष्टे गंधर्व-नगरं यथा।

तथा विश्वमिदं दृष्ट वेदान्तेषु विचक्षणे।

इस प्रकार अपरिवर्तनीयता एवं अबाधित्व को यथार्थता या सत् का मापदण्ड स्वीकार लेने पर संसार की कोई भी वस्तु सत् नहीं हो सकती। सृष्टि में परिवर्तन ही परिवर्तन है, प्रकृति निरंतर प्रसवधर्मिणी है। वेदान्त में सृष्टि को अनादि कहा गया है। इस मान्यता का एक तार्किक आधार है। यदि हम यह कहें कि एक समय ऐसा था जब यह समस्त व्यक्त सृष्टि नहीं थी तो यह प्रश्न उठता है कि क्या इसकी उत्पत्ति शून्य से हो गई? इस प्रश्न की मीमांसा ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में करने का प्रयत्न ऋषियों ने किया था। सृष्टि विषयक दार्शनिक मीमांसा का यह प्राचीनतम प्रयास था। आरण्यकों में सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म से कही गई है, किन्तु यहाँ महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि आरण्यकों में ब्रह्म और आत्मतत्व का तादात्म्य प्राप्त नहीं होता। उपनिषदों में ही इस तादात्म्य का प्रतिपादन सर्वप्रथम हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् में वह तत्व जिससे सृष्टि की उत्पत्ति,

स्थिति और लय होता है, उसे **'ब्रह्म'** कहा गया है और इस बात को 'तज्जलान्' पद से अभिव्यक्त किया गया है।

उपनिषदों के अनुसार जगत् ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। जगत् का अधिष्ठान ब्रह्म है। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' के अनुसार ब्रह्म सृष्टि की रचना कर उसमें प्रविष्ट हो जाता है- **'तत्सष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'**। देश, काल, प्रकृति आदि ब्रह्म का आवरण है, क्योंकि सभी में ब्रह्म व्याप्त है। सृष्टि की रचना उपनिषदों में उपमाओं के द्वारा की गई है। जैसे-प्रज्जवलित अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, सोने से गहने बन जाते हैं, मोती से चमक उत्पन्न होती है और बाँसुरी से ध्वनि निकलती है वैसे ही ब्रह्म से सृष्टि होती है।

1 (iii) ब्रह्म-जगत् सम्बन्ध –

आचार्य शंकर ने जगत् को आभास रूप माना है। जैसे यथार्थ बोध न होने के कारण रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है, जिसकी निवृत्ति रज्जु को रज्जु रूप में जानने से ही होती है। उसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञान के अभाव में यह नाना रूपात्मक जड़ जगत् भासित होता है जिसकी निवृत्ति जगत् के वास्तविक स्वरूप अर्थात् ब्रह्म की अनुभूति से होती है। अर्थात् अविद्यावश मिथ्या जगत् भी सत्य प्रतीत होता है।

जगत् का आधार ब्रह्म है, जिस प्रकार रस्सी में दिखाई देने वाले साँप का आधार रस्सी है उसी प्रकार ब्रह्म विश्व का अधिष्ठान कारण है। इस विश्व में एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता है। अन्य सभी सत्ताएँ उसकी ही सत्ता का आभास अथवा अभिव्यक्ति हैं। निर्विशेष निराकार परब्रह्म ही माया रूप उपाधि से उपहित होकर ईश्वर का रूप धारण करता है और इस सृष्टि की रचना करता है। अपने चैतन्य की प्रधानता से ब्रह्म ही इस सृष्टि का निमित्त कारण और अपनी उपाधि की प्रधानता से सृष्टि का

उपादान कारण है। इसलिए वेदान्त परम्परा ब्रह्म को सृष्टि का निमित्तोपादान कारण स्वीकार करती है। वेदान्त के अनुसार जीव और जड़ात्मक जगत् ब्रह्म का वास्तविक परिणाम नहीं हैं अपितु उसके आभास रूप की अभिव्यक्ति हैं। इस तरह वेदान्त दर्शन सृष्टि प्रक्रिया की दृष्टि से विवर्त्तवाद का पोषक है, परिणामवाद का नहीं। ब्रह्म अपरिवर्तनशील, अविकारी और असीम है, विश्व परिवर्तनशील विकारी और ससीम है, अत· यह परम सत्य नही हो सकता। यह परिवर्तनशील संसार ब्रह्म का आभास मात्र है। शास्त्र उसकी उपमा ऐन्द्रजालिक के इन्द्रजाल से देते हैं। जिस प्रकार जादूगर जादू की प्रवीणता से एक सिक्के को अनेक सिक्कों के रूप में परिवर्तित करता है, बीज से वृक्ष उत्पन्न करता है, फल-फूल उगाता है, उसी प्रकार ब्रह्म माया-शक्ति के द्वारा विश्व की अभिव्यक्ति करता है। जिस प्रकार मायावी अपनी माया से स्वयं प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म भी इस जगत् से परिच्छिन्न नहीं होता। रामकृष्ण और विवेकानन्द भी जगत् को पारमार्थिक दृष्टि से ही असत् कहते हैं एवं व्यावहारिक दृष्टि से सत् कहते हैं। ब्रह्म जगत् का सामान्य अर्थों में कारण नही है।

(2) श्री रामकृष्ण देव के अनुसार जगत् एवं सृष्टि -

श्री रामकृष्ण देव सृष्टि के कर्ता-धर्ता तथा हर्ता के रूप में आद्या-शक्ति को मानते हैं। यह आद्या-शक्ति अपने ही भीतर से, जगत् की रचना करती है, अतः वह निमित्त के साथ-साथ उपादान कारण भी है। वह साधारण अर्थों में सृष्टि का कर्ता इसीलिए नहीं है क्योंकि सामान्यतः अन्य सन्दर्भों में कर्ता उपादान हेतु स्वनिर्भर नहीं होता। दूसरा अन्तर यह है कि सामान्य कर्ता व्यष्टि तत्व का कर्ता होता है जबकि आद्या-शक्ति समष्टि के कर्तृत्व से सम्बन्धित होती है। तीसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि सामान्य कर्ता कर्तापन के अहंकार से युक्त होता है

जिसके कारण वह मायाधीन कहलाता है। जबकि आद्या-शक्ति के लिए यह सृष्टि उसकी क्रीड़ा-स्थली है जिसके कारण वह मायाधीश की संज्ञा से भी अभिहित की जाती है। अतः इस सृष्टि रचना की तुलना कुम्हार से न करके ऊर्णनाभि से की जाएगी जिस उपमा का उल्लेख उपनिषदों में भी प्राप्त होता है।

अद्वैत वेदान्त में जगत् को मिथ्या कहा जाता है जिसका तात्पर्य है कि यह जगत् त्रिकालाबाधित सत्ता नहीं है। ब्रह्म ही त्रिकालाबाधित सत्ता है और चूंकि जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है, जिसका लाक्षणिक अर्थ दोनों की अभिन्नता है। अतः ब्रह्म से पृथक् ऐसी कोई सृष्टि मिथ्या ही कही जाएगी। वह आकाशकुसुम की भाँति नितान्त असत् नहीं है, क्योकि वर्तमान में उसकी सत्ता प्रतीत होती है। अतः वह वर्तमान का सत्य है, त्रिकाल का नहीं। किन्तु जिस प्रकार भ्रम के दूर हो जाने पर भ्रमजनित तत्व भी विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार ब्रह्म-साक्षात्कार अर्थात् त्रिकालाबाधित सत्य का ज्ञान हो जाने पर इस वर्तमान में उसकी सत्ता प्रतीत होती है। अतः समकालिक जगत् का अवशेष भी विद्यमान नही रहता। श्री रामकृष्ण देव ने इसी भ्रम के अर्थ में जगत् को असत् कहा है।

श्री रामकृष्ण देव बडे ही सरल शब्दों में कहते है कि सीढ़ियों से होकर छत पर जाने से ही यह ज्ञात हो पाता है कि जिन तत्वों से छत का निर्माण हुआ है, उन्हीं से सीढ़ियों का भी। उसके पूर्व दोनों में भिन्नता का ही बोध होता है। इसी प्रकार ब्रह्म को जानने के पश्चात् ही जगत् का यथार्थ रूप समझ में आता है। जब तक हमारा पृथक् व्यक्तित्व बना रहेगा, हम निरपेक्ष-सापेक्ष द्रव्य-गुण, अपौरूषेय-पौरूषेय, एक-अनेक के द्वैत से कभी भी मुक्त नहीं हो सकते। बृद्धावस्था में निरपेक्ष तत्व के

विषय में हमारी सारी कलपनाएं सापेक्ष तत्व के विषय में ही होंगी।

(3) विवेकानन्द के अनुसार जगत् एवं सृष्टि –

स्वामी विवेकानन्द अद्वैत वेदान्ती हैं और उनकी सृष्टि की अवधारणा भी अद्वैत मान्यताओं के अनुकूल ही है। परन्तु उनकी सृष्टि–सम्बन्धी व्याख्या अद्वैत परम्परा से कुछ भिन्न भी है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है और जगत् मिथ्या है–'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। स्वामी विवेकानन्द ब्रह्म को सत्य मानते हैं, उसे एक और अद्वितीय भी मानते हैं, परन्तु **विवेकानन्द ब्रह्म तथा ईश्वर में जो सृष्टिकर्ता है, प्रायः भेद नहीं करते।** इसी प्रकार वे सृष्टि की आभासरूपता पर भी बारम्बार चर्चा नही करते। **यदि सृष्टि (जगत्) का कर्ता सत्य है तो उसकी कृति सृष्टि भी सत्य है।** यदि सृष्टि मिथ्या भी है तो वह एक विशेष अर्थ में। इसे भ्रम, माया या अविद्या की कृति मानकर मिथ्या नहीं माना जा सकता । वेदान्त में असत् और मिथ्या दो अलग–अलग शब्द हैं। असत् वह है जिसकी किसी काल में (अर्थात तीनों कालों में) सत्ता न हो जबकि मिथ्या की कम से कम व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक सत्ता अवश्य होती है किन्तु, पारमार्थिक सत्ता उसकी भी नही होती। अतः सृष्टि (जगत्) सृष्टिकर्ता (ईश्वर) की देन है और यह असत्य नहीं, सत्य है। इसे सत्य मानकर ही इसकी सही व्याख्या की जा सकती है। इसे असत्य मानना तो इसकी व्याख्या को भी असत्य बनाना है। इसकी सुसंगत व्याख्या इसे सत्य मानकर ही सम्भव है।

अद्वैत परम्परा का प्रायः निर्वाह करते हुए स्वामी जी ने सृष्टि की एक नयी व्याख्या की है।[1] उन्होंने सृष्टि की व्याख्या के लिए एक रेखांकित चित्र बनाया है–

[1] लंदन में दिए गए एक भाषण से उद्धृत– 1896

(क) **ईश्वर** (परम तत्त्व)

दिक्

(ख) **काल**

कारणता

(ग) **विश्व–जगत्**

विश्व में (क) सृष्टिकर्ता (ईश्वर) है (ग) उसकी सृष्टि जगत् है और (ख) दिक्, काल, कारणता आदि माध्यम हैं, जिनके द्वारा सृष्टि व्यक्त होती है। इस रेखांकित चित्र में परमतत्त्व (ईश्वर) है। ईश्वर अज, अविनाशी और नित्य तत्व है। दिक्–काल और कारणता से वह पूर्णतः अप्रभावित तत्व है। वह विभु और विराट् है, जो सृष्टि के कण–कण में विद्यमान है, अतः वह स्थान या दिक् के परे है। वह नित्य और शाश्वत तत्व है, अतः भूत, भविष्य और वर्तमान सभी में एक समान विद्यमान रहता है। वह त्रिकालवर्ती है, अतः काल के परे है। इसी प्रकार अज और अविनाशी को अकारण भी स्वीकार किया जाता है। कारणजन्य तो सान्त होता है, अनन्त तो अकारण है। इसी कारण परमतत्त्व को अद्वैत परम्परा में **'दिक्कालाद्यनवच्छिन्न'** कहा जाता है, क्योंकि दिक्, काल और कारणता से वह अवच्छिन्न नहीं होता। परन्तु, स्वामी जी का ईश्वर अज होते हुए भी अकर्ता नहीं है। दिक् और काल के परे वह विभु, विराट और सर्वव्यापी तत्व है। परन्तु इतना होते हुए भी ईश्वर सृष्टिकर्ता है। सृष्टि के लिए दिक् और काल की आवश्यकता है, निमित्त और उपादान कारणों की अपेक्षा है।

सृष्टि की उत्पत्ति के सन्दर्भ में सांख्य की भाँति वेदान्त भी

सत्कार्यवाद स्वीकार करता है। सत्कार्यवाद के आधार पर सांख्य प्रकृति को जगत् का मूल कारण सिद्ध करता है जबकि वेदान्त में यह मूल कारण स्वयं परब्रह्म है। वही सृष्टि का 'अभिन्ननिमित्तोपादान' कारण है। यहाँ विचारणीय है कि अद्वैत वेदान्त सत्कार्यवादी भी कहा जाता है क्योंकि यह केवल ब्रह्म की ही वास्तविक सत्ता मानता है। ब्रह्म सृष्टि का कारण है और उसकी ही पारमर्थिक सत्ता है। किन्तु, यह विचारणीय है कि पारमार्थिक दृष्टि से तो ब्रह्म कारण है ही नही, क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति वास्तविक न होकर आभासिक है। यद्यपि आचार्य शंकर ने सृष्टि की व्यावहारिक सत्ता को पर्याप्त प्राधान्य दिया है किन्तु ये भी 'अजातिवाद' की परम्परा के ही है। अतः जिस व्यावहारिक स्तर पर ब्रह्म की कारणता और सृष्टि की कार्यरूपता है, उस स्तर पर अद्वैत सिद्धान्त सत्कार्यवाद मानता है। ऐसा कहा जा सकता क्योंकि श्रुति **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ...... तथा 'तज्जलान्'** आदि वाक्यों से सृष्टि की उत्पत्ति और लय ब्रह्म में ही स्वीकार करती है। शारीरिक सूत्र में भी, **'जन्माद्यस्य यतः'** सूत्र से यही प्रतिपादित किया गया है।

आचार्य शंकर के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति आदि का कारण ब्रह्म है। ईश्वर अपनी रचनात्मिका शक्ति 'माया' के द्वारा सम्पूर्ण जगत् प्रपन्च की रचना करता है। सृष्टि कार्य के पीछे ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं है बल्कि उसका यह कार्य लीला मात्र ही है। शारीरक भाष्य में ईश्वर की इस लीला का कवित्वमय वर्णन मिलता है– 'एक दिन ईश्वर एकान्त में बैठा और कवित्त करने का संकल्प करके उसने कहा कि गगन अनन्त है। वायु स्पन्दित हो रही है, तेज प्रकाशित हो रहा है, जल रसमय हो रहा है। पृथ्वी धारण कर रही है, आदि। जो–जो भाव आया, जो–जो शब्द उसके मुँह से निकला, वही–वही बनता गया । यह सृष्टि ही उसकी कविता बन गई। सृष्टि की विपरीत क्रिया को 'प्रलय' कहा जाता है।

जगत् ईश्वर से उत्पन्न होता है और उसी में विलीन हो जाता है। वस्तुतः सृष्टि व्यावहारिक रूप से ही सत्य है, पारमार्थिक रूप से नहीं । सृष्टि की रचना स्वप्नवत् बतलाई गयी है। संसार में जो द्वैत या नानात्व है वह मायाजन्य है। परमार्थतः **केवल अद्वैत ही एकमात्र सत्य है**। यहाँ पर एक प्रश्न यह पैदा होता है कि आध्यात्मिक या चेतन ईश्वर द्वारा भौतिक (जड़) जगत् का निर्माण कैसे होता है? समस्या का समाधान करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं- 'जिस प्रकार चेतन जीव-मनुष्य से, अचेतन वस्तुओं- नाखून और केश का निर्माण होता है, गाय के गोबर जैसे अचेतन पदार्थ से बिच्छू जैसे चेतन कीड़ों की उत्पत्ति होती है, उसी तरह से पूर्ण चैतन्य ईश्वर से अचेतन जड़ जगत् की उत्पत्ति होती है।' अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से ये समस्त विश्व ब्रह्म पर उसी प्रकार अध्यस्थ है जिस प्रकार रज्जु पर सर्प अध्यस्थ होता है। इस दृष्टि से ब्रह्म ही जगत् का अधिष्ठान कारण भी है। **तैत्तिरीयोपनिषद्** में स्पष्ट कहा गया है-

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्य-भिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। सतोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।।[1]

आचार्य शंकर की ही भाँति श्री रामकृष्ण भी ब्रह्म को जगत् का उपादान और निमित्त दोनों ही कारण मानते हैं। वे कहते हैं कि घडे का उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्भकार । कुम्हार है इसलिए मिट्टी का यह रूपान्तर होता है। लेकिन यहाँ तो एक ईश्वर को छोड़ दूसरा कोई नहीं है। ब्रह्म को छोड़ ऐसा कोई उपादान नहीं है, जिसे वह रूपान्तरित करेगा। ऐसी कोई सत्ता नहीं है जो उसके द्वारा रचे गए इस जगत् के लिए उपादान का काम करेगी। इसीलिए श्री रामकृष्ण देव कहते हैं कि 'उसी ने इस जगत् को रचा है, फिर इस जगत् में अवस्थान

[1] तैत्तिरीय उपनिषद् , पृ. 391

करता है तथा पुनः उसी में इस जगत् का लय हो जाएगा'। परमतत्त्व की यहाँ पर जिस प्रकार व्याख्या की गई है, उसमें वह उपादान और निमित्त दोनों ही कारण हैं। इसलिए उसकी जगत् सृष्टि अन्य किसी भी साधारण सृष्टि के साथ तुलनीय नहीं हो सकती। केवल ऊर्णनाभि (मकड़ी) अथवा विस्फुलिंग के साथ उसकी आंशिक रूप से तुलना की जा सकती है– **'यथातदेतत्सत्यं तथा सुदीप्तात्पावकात् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति।।"**[1]

यहाँ एक कठिनाई उत्पन्न होती है। ईश्वर सर्वथा निरपेक्ष तत्त्व है परन्तु सृष्टिकर्ता होने से वह दिक्, काल और कारण सापेक्ष बन जाता है। अतः वह निरपेक्ष कैसे रहेगा? इसका उत्तर यह है कि दिक्, काल, कारणता आदि स्वतन्त्र तत्त्व नहीं हैं अथवा इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। हम भूत, वर्तमान और भविष्य में काल का विभाजन करते हैं। किसी स्थिर बिन्दु की अपेक्षा से किसी को भूत और किसी को भविष्य की संज्ञा देते हैं, परन्तु अविभाज्य का विभाजन सम्भव नहीं। जो सर्वदा गतिशील है, वह कभी स्थिर नही होता, परन्तु व्यावहारिक सुविधा के अनुसार हम भूत, भविष्य और वर्तमान में काल का विभाजन करते हैं। यह हमारी व्यावहारिक उपलब्धियों का साधन है। इसी प्रकार हम निकट और दूर से दिक् का निर्देश करते हैं। विभु और विश्वव्यापी तो सर्वत्र हैं, अतः उसके लिए निकट और दूर कुछ भी नहीं। व्यवहार में हम निकट और दूर की अवधारणाओं का आधार दिक् को ही स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार कारणता तो जन्य जनकत्व भाव है, जो अज या अजन्य है, वह कारणता से परे है। परन्तु सांसारिक वस्तुओं को हम जन्य जनकत्व भाव अर्थात् कार्य कारण भाव के बिना समझ नहीं सकते। इस प्रकार दिक्, काल और

[1] मुण्डकोपनिषद् , पृ. 5

कारणता आदि की अवधारणाएँ पारमार्थिक नहीं, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ये हमारे सभी उपलब्धियों के साधन हैं।

स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि ये अवधारणाएँ पारमार्थिक या तात्त्विक नहीं, क्योंकि इनकी सत्ताएं स्वतंत्र नहीं हैं। परन्तु ये अवधारणायें असत् भी नहीं हैं। यदि इन्हें असत् मान लिया जाए तो हमें सांसारिक या व्यावहारिक वस्तुओं की उपलब्धि असम्भव हो जाएगी । इसलिए स्वामी जी इन्हें व्यावहारिक उपलब्धियों का माध्यम या साधन स्वीकार किया है। सृष्टिकर्त्ता ईश्वर सत् है तो उसकी सृष्टि असत् नहीं। इसके साथ ही सृष्टि के माध्यम (देश, काल, कारणता) भी सत् हैं। ये उपलब्धि के साधन हैं। अतः सृष्टि की उपलब्धियाँ हमें इन्हीं माध्यमों से होती है। इसे स्पष्ट करने के लिए स्वामी जी सागर और लहरों की उपमा देते हैं। सागर में लहरें उठती हैं, अतः सागर लहरों का अधिष्ठान है। जब लहरें शान्त हो जाती है तब भी सागर का अस्तित्व बना रहता है। अतः लहरें सागर नहीं हैं, परन्तु सागर से सर्वथा भिन्न भी नहीं है। लहरों के बिना हमें लहराते सागर की उपलब्धि नहीं हो सकती । उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि स्वामी जी देश, काल, कारणता आदि का महत्व सृष्टि के माध्यम रूप में स्वीकार करते हैं । यदि सृष्टि व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है तो दिक्, काल, कारणता आदि भी इसके महत्त्वपूर्ण माध्यम हैं । इससे भी स्पष्ट होता है कि सृष्टि या जगत् असत् नहीं है। इसकी सत्ता है। अतः यह सत् है, क्योंकि सत् सृष्टिकर्त्ता की अभिव्यक्ति है। कृति के असत् होने से कर्ता भी असत् ही होगा, क्योंकि असत् कार्य का कोई कर्ता सिद्ध नही हो सकता। इस तर्क के विपरीत स्वामी जी सत् कर्ता (ईश्वर) से सत् कार्य (संसार) को स्वीकार करते हैं। परन्तु वे अद्वैत-परम्परा के समर्थक हैं, अतः वे कारण से कार्य की उत्पत्ति के स्थान पर कारण से कार्य की अभिव्यक्ति मानते हैं और इस अभिव्यक्ति का माध्यम देश, काल और

कारणता है। इससे स्पष्ट है कि जो ईश्वर देश, काल और कारणता के परे है, वही देशगत, कालगत और कारणगत सृष्टि का कर्ता है।

सृष्टि (जगत्) के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह भी है कि सृष्टि कैसे होती है, इसकी प्रक्रिया क्या है? स्वामी जी का कहना है कि सृष्टि सूक्ष्म से स्थूल रूप में विकसित होती है। तात्पर्य यह है कि जगत् का मूल रूप सूक्ष्म होता है। सर्वप्रथम ईश्वर से सूक्ष्म तत्त्व ही आविर्भूत होते हैं। परन्तु इनसे स्थूल तत्त्वों का विकास होता है। इस प्रकार **स्वामी जी सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सृष्टिवाद और विकासवाद दोनों को स्वीकार करते हैं।** सृष्टि की वस्तुओं का वर्तमान स्वरूप तो सदियों के विकास का परिणाम है, परन्तु इनका प्रारम्भिक या मौलिक रूप सूक्ष्म है। इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल वस्तुओं का विकास वे स्वीकार करते हैं। उनकी विशेषता यह है कि वे संसार सम्बन्धी सृष्टिवाद और विकासवाद दो विरोधी सिद्धान्तों का भी अद्वैत परम्परा के साथ सफल समन्वय कर देते हैं।

सृष्टि के सन्दर्भ में ब्रह्म की कारणता का एक विशेष अर्थ है, प्रथम तो यह कि ब्रह्म 'निष्क्रिय', 'कूटस्थ', 'अचल', 'अकर्ता' है एवं दूसरे यह कि कारण–कार्य का नियम देश–काल की परिधि में ही कार्य करता है जबकि ब्रह्म 'देशकालातीत' है। अतः निर्विकल्प ब्रह्म की कारणता का भव्य अर्थ अधिष्ठान रूप होना है। यह निर्विकल्प ब्रह्म ही जब मायोपहित होकर सविशेष या 'सविकल्प ब्रह्म' बनता है तो यही सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण भी बन जाता है।

कार्य एक घटना है जो अकारण नहीं घटती । इसके साथ ही यदि कारण है तो कार्य अवश्य घटित होगा । इस आधार पर यदि सृष्टि हो तो इसका स्रष्टा (ईश्वर) भी होगा। इसी आधार पर अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि सृष्टि की व्याख्या ईश्वर के बिना नहीं हो सकती। यदि संसार है तो

इसका कर्ता ईश्वर भी है, अन्यथा कार्य अकारण हो जाएगा। इसी तर्क को ही ध्यान में रखकर स्वामी जी कहते हैं -एक पत्थर गिरता है और हम पूछते हैं, क्यों? इस क्यों के प्रश्न में एक मान्यता यह है कि कोई घटना अकारण नहीं घटती। इसका अर्थ यह है कि संसार की सभी वस्तुएं या घटनाएँ कार्य-कारण नियम से आबद्ध हैं। प्रत्येक घटना अपने पूर्ववर्ती घटना (कारण) का कार्य है तथा अपने उत्तरवर्ती घटना (कार्य) का कारण है। इस प्रकार **संसार श्रृंखला में प्रत्येक कड़ी अपने पूर्ववर्त्ती कड़ी से जन्य है तथा उत्तरवर्ती कड़ी का जनक है।** यह 'कार्य-कारण नियम' (जन्य-जनकत्व भाव) हमारे चिन्तन का अनिवार्य उपकरण है।[1] इस कार्य-कारण नियम के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि सृष्टि अकारण नहीं तथा स्रष्टा बिना सृष्टि का नहीं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सृष्टि यदि सत्य है तो इसका स्रष्टा (ईश्वर) भी सत्य है। अन्यथा कार्य-कारण नियम का उल्लंघन होगा । परन्तु कार्य-कारण नियम की भी सीमा है। यह नियम भी बुद्धि की देन है, जो बुद्धि के सभी विकल्पों के परे है। इस पर बौद्धिक नियम नहीं लागू किया जा सकता । अतीन्द्रिय विषय बौद्धिक नियमों के परे है। इसी दृष्टि से स्वामी जी कहते हैं कि परम-तत्व या ईश्वर तो स्वयंभू है। वह सबका कारण है, परन्तु स्वयं अकारण है। 'ईश्वर स्वयंभू है, अतः अपने अस्तित्त्व का कारण स्वयं है। वह पूर्णतः स्वतन्त्र है। यदि स्वतंत्र को भी कारणजन्य माने तों वह स्वतन्त्र नहीं परतन्त्र होगा, स्वाधीन नहीं पराधीन होगा ।'[2] इस प्रकार स्वतंत्र और स्वयंभू ईश्वर अकारण है।

[1] ज्ञान-योग, रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ. 119-20

[2] वही, पृ 121

आचार्य शंकर जब सृष्टि की तुलना ब्रह्म से करते हैं तो ब्रह्म की तुलना में सृष्टि मिथ्या सिद्ध होता है क्योंकि ब्रह्म निरपेक्ष सत् है, निर्विकार, शाश्वत, कूटस्थ और अनन्त है। इसलिए शंकर ब्रह्म को 'पारमार्थिक सत्' कहते हैं । **"एकमेव हि परमार्थसत्यं ब्रह्म"**।[1] अर्थात् ब्रह्म ही एक मात्र परमार्थ सत्य है।

सृष्टि न आकाशकुसुम के समान अनृत, न स्वप्न के समान किसी व्यक्ति विशेष की वैयक्तिक रचना और भ्रान्ति है। साथ ही वह नित्य सत् भी नही है। यह सत् और असत् से पृथक कुछ विशेष प्रकार की है। सत् और असत् दोनों विरोधी पद होने के कारण इसे "सदसद्" कहना भी उचित नहीं है। इसलिए अद्वैत वेदान्ती इसे 'अनिवर्चनीय' कहते हैं।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि सृष्टि की रचना ईश्वर ने क्यों की? सृष्टि के मूल में ईश्वर का क्या प्रयोजन हो सकता है? तो, इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म स्वयं व्यक्तित्वहीन एवं निर्गुण होने के कारण कोई प्रयोजन नहीं रखता। जब ब्रह्म को सृष्टि (जगत्) के दृष्टिकोण से देखा जाता है तब, यह ईश्वर बन जाता है। यह ईश्वर सगुण ब्रह्म है। यह सृष्टि की उत्पत्ति करता है। ईश्वर सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए करता है? उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि सृष्टि ईश्वर के लिए आवश्यक है। वह सृष्टि द्वारा ही अपनी अभिव्यक्ति करता है। ईश्वर एक महान मायावी है, जो सृष्टि की रचना करता है। यह सृष्टि उसी महान मायावी (अर्थात् ईश्वर) की लीला है।

श्री रामकृष्ण देव सृष्टि के विषय में एक गूढ़ रहस्य की बात कहते हैं। वह रहस्य यह है कि **सृष्टि नित्य नहीं है**। अब जो नित्य नहीं है, उसका एक दिन नाश होगा ही एवं नाश होने के उपरान्त पुनः सृष्टि कहां

[1] तैत्तिरीय उपनिषद् , शां. भा 2 6 पृ. 171

से होगी ? यदि यह कहा जाये कि ब्रह्म के भीतर से ही सृष्टि होगी अर्थात् वह कार्य और कारण दोनों है, तब प्रश्न उठेगा कि तब तो उसके भीतर वैचित्र्य को, अनेकता को स्वीकार कर लेना हुआ। यदि इस वैचित्र्य को स्वीकार करते हैं, तो अद्वैत हानि होती है और यदि अस्वीकार करते हैं, तो सृष्टि असम्भव हो जाती है। इसीलिए अन्त में तथा वेदान्त में भी यह कहा जाता है, जब समस्त जगत् लय को प्राप्त है, तब ईश्वर सृष्टि के बीजों को अपने भीतर संग्रह करके रखता है और चूंकि यह बीज उसके स्वरूप से भिन्न नही है इसलिए वहाॅ द्वैतापत्ति नहीं होती ।

श्री रामकृष्ण देव का कहना है कि जिसके भीतर से इस जगत् की सृष्टि होती है, जिसमें यह जगत् अवस्थित रहता है तथा अन्त में इस जगत् का जिसमें लय होता है, उसी को हम 'ब्रह्म' कहते हैं, 'ईश्वर' कहते हैं। लेकिन, ईश्वर की यह सृष्टि कुम्हार की कुम्भसृष्टि के समान नहीं। कुम्हार जब घड़ा तैयार करता है तब वह उसे अपने भीतर से तैयार नहीं करता, वह बाहर के किसी उपादान से उसे बनाता है। कुम्हार यदि न भी रहे तो इससे घड़े को न तो कोई क्षति होगी, न वृद्धि पर, जगत की सृष्टि इस प्रकार नहीं है। इस बात को समझाने के लिए ही उपनिषद् कहते हैं कि जिससे इस जगत् की उत्पत्ति होती है, जिसमें यह जगत् स्थित है तथा जिसमें इस जगत् का लय होगा, वही ईश्वर है, ब्रह्म है।[1]

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि विश्व में अनेकता या विविधता दिखलायी पड़ती है परन्तु, इसका आन्तरिक स्वरूप एकता है, क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि एक स्रष्टा (ईश्वर) की अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार स्वर्ण से निर्मित विभिन्न आभूषण तत्त्वतः स्वर्ण ही हैं, क्योंकि सभी स्वर्ण के ही विकार हैं, उसी प्रकार जड-चेतन आदि विविधताओं भरी हुई सृष्टि तत्त्वतः

[1] श्री रामकृष्ण वचनामृत प्रसंग पृ 95

एक ईश्वर की सृष्टि है। इसी दृष्टि से स्वामी जी कहते हैं कि बाह्य विविधता की दृष्टि से व्यक्तियों में, वर्णों में, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, देवता-मनुष्य, पशु आदि का भेद अवश्य दिखलायी देता है, परन्तु आन्तरिक (तात्त्विक) एकता की दृष्टि से सभी में अभेद है।[1] सृष्टि के इसी क्रम के विपरीत क्रम से सृष्टि का लय होता है। प्रलयकाल में सर्वप्रथम पृथ्वी का लय जल में होता है। तत्पश्चात् जल का लय अग्नि में, अग्नि का वायु में वायु का आकाश में तथा आकाश का आत्मा में लय होता है। यही उपनिषदों के आधार पर सृष्टि एवं लय की प्रक्रिया है।

श्री रामकृष्ण देव कहते हैं कि जब हम अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से जगत्-रचना की बात सुनते हैं, तब रचना का क्रम इस प्रकार देखते हैं- सबसे पहले हिरण्यगर्भ के रूप में ब्रह्म का आविर्भाव होता है। हिरण्यगर्भ मानव जगत् का स्रष्टा है। जगत् की सृष्टि करने के उद्देश्य से ब्रह्म मानो एक व्यक्ति के रूप में आविर्भूत होता है। उसके पश्चात् उसके ही भीतर से ही प्रथम सृष्टि आरम्भ होती है। पहले उसके भीतर से 'वेद' का आविर्भाव होता है। वेद अर्थात् समस्त ज्ञान का सूक्ष्म रूप, जो उसके भीतर पहले भाव रूप में आविर्भूत होता है। इसके पश्चात् वह उसे स्थूल रूप देता है। स्थूल रूप का भी क्रम है।[2] कहा गया है-

तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः ।

आकाशाद् वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी।

अर्थात् उस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी। उसके पश्चात् पंचभूतात्मक विभिन्न प्रकृति अव्यक्त रूप से जो सृष्टि थी, उसे ही मानव सृष्टि का

[1] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, (खण्ड-1), पृ. 123

[2] श्री रामकृष्ण वचनामृत प्रसंग पृ. 94-5

बीज संग्रह कर रखना कह रहे हैं। आद्या–शक्ति इस सृष्टि को ईश्वर के भीतर से बाहर लाती है और पुनः उसी में रख भी देती है। परमहंस देव मकड़ी के जाल रचने से इसकी उपमा देते हैं। **मुण्डक उपनिषद्** के शुरू में कहा गया है–

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरूषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम्।।[1]

अर्थात् जैसे मकड़ी अपने भीतर से ही जाले का विस्तार करती है तथा पुनः उस जाले को अपने भीतर समेट लेती है, उसी प्रकार ईश्वर भी अपने भीतर से इस जगत् को प्रकाशित करता है और पुनः अपने भीतर ही उसे समेट लेता है। श्री रामकृष्ण देव भी लूतातन्तु से ही ब्रह्म को सृष्टि का कारण बतलाते हैं।

कुछ विद्वान आपत्ति उठाते हैं कि यदि ईश्वर सृष्टि का रचयिता है, तो फिर सृष्टि भी ईश्वर की भाँति क्यों नहीं दिख पड़ती? दोनों के स्वरूपों में अन्तर क्यों पाया जाता है? इसका उत्तर यह है कि – जिस प्रकार अचेतन वस्तु को चेतन वस्तु, यथा–गोमय से वृश्चिक और चेतन वस्तु, यथा–मनुष्य से नख, केश आदि का विकास होता है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर से सृष्टि की रचना होती है। आध्यात्मिक सत् (ईश्वर) से भौतिक सत्ता (सृष्टि) की उत्पत्ति को अद्वैत वेदान्ती अनुचित एवं अस्वाभाविक नहीं मानते । ईश्वर सृष्टि का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों ही है।[2] वह मूलतः निष्क्रिय रहता है, किन्तु माया के कारण क्रियाशील प्रतीत हो जाता है।

[1] मुण्डकोपनिषद् , पृ. 84
[2] शारीरिक भाष्य, 1/1/2

जब तक हम अविद्या और भ्रम से ग्रस्त रहेंगे, हमारा पृथक् अस्तित्व बना रहेगा और बाह्य जगत् हमारे लिए एक वास्तविक तथ्य के रूप में ही सामने आएगा। भ्रम में रहते हुए हम भ्रम के मूल कारण को नहीं जान सकते। पर ब्रह्म साक्षात्कार के कारण भ्रम का निवारण होते ही सृष्टि का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। ऐसी स्थिति में भ्रम और अभ्रम, तथ्य और कल्पना सम्बन्धित सभी प्रश्न अप्रासंगिक हो जाते हैं।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार ईश्वर और सृष्टि में वही सम्बन्ध है जो हमारी आत्मा और शरीर में है। ईश्वर सृष्टि का सूक्ष्म व विभु रूप है तथा सृष्टि ईश्वर का स्थूल रूप है। प्रारम्भ में चैतन्य अव्यक्त अवस्था में रहता है और क्रमशः वही व्यक्त रूप में प्रकट होता है। अतः विश्व में पाए जाने वाले समस्त चैतन्यों की समष्टि ही वह 'अव्यक्त विश्वचैतन्य' है, जो उन विभिन्न रूपों में प्रकाशित हो रहा है, जिसे शास्त्रों में ईश्वर की संज्ञा दी गई है। प्रकृति ससीम है और आत्मा असीम है। अतः प्रकृति के ऊपर आत्मा की विजय सुनिश्चित है। आत्मा में निहित अजेय शक्ति को विकसित कर हम प्रकृति पर आसानी से विजय-लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

विवेकानन्द ने सृष्टि की उत्पत्ति के जिस क्रम को स्वीकार किया है वह 'सांख्य-दर्शन' के अधिक समीप है। समस्त जड़ पदार्थों का मूल उपादान कारण **'आकाश तत्व'** है और समस्त शक्तियों का मूल स्रोत **'प्राण'** है। परन्तु, आकाश और प्राण की उत्पत्ति महत् तत्त्व से हुई है।[1] मन जड़ तत्व है। अतः अन्तिम तत्व चैतन्य ही है।[2] कुछ स्थलों पर स्वामी जी ने जड़ को शक्ति रूप माना है। ''हम जिसे जड़ कहकर पुकारते हैं

[1] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द (खण्ड-3) पृ. 400-1

[2] वही (खण्ड-2), पृ. 209

उसके लिए यह प्रमाणित करना सम्भव है कि उसका अस्तित्त्व नहीं है। यह केवल शक्ति की ही विशेष अवस्था है। रूक्षता आदि जड़ात्मक गुण भी चैतन्य की ही विभिन्न स्तरों के स्पन्दन मात्र है।"[1] **स्वामी जी मनस्तत्व और जड़ में आनुपातिक भेद ही मानते हैं।** मन का स्थूल रूप जड और जड़ का सूक्ष्म रूप मन है।[2] जड़ द्रव्य के विषय में स्वामी जी की यह धारणा प्राचीन मान्यताओं से तो भिन्न है परन्तु यह विज्ञानसम्मत प्रतीत होती है।

(4) श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द के जगत् एवं सृष्टि सम्बन्धी विचारों की समीक्षा–

उपनिषदों की भाँति आचार्य शंकर भी एक ही परम सत्ता में विश्वास रखते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र वास्तविक सत्ता है। आचार्य शंकर सृष्टि को असत् या अवास्तविक मानते हैं। अब प्रश्न है कि यदि सृष्टि असत् है, तो सत् या वास्तविक क्यों दीख पड़ता है? शंकर इसका उत्तर स्वप्न की उपमा के आधार पर देते हैं। स्वप्न की घटनाएँ अवास्तविक होती है, किन्तु ये तब तक सत् दिख पड़ती हैं, जब तक व्यक्ति निद्रा में स्वप्न देखता रहता है। ज्योंहि नींद टूटती है त्योंहि ये घटनाएँ असत् सिद्ध हो जाती हैं। इसी प्रकार जब तक व्यक्ति अज्ञान के वशीभूत रहता है, तब तक वह विश्व की वास्तविकता में विश्वास रखता है, किन्तु अज्ञान के प्रभाव से मुक्त होते ही उसे मूलसत्ता का ज्ञान होता है और वह विश्व की वास्तविकता से भी परिचित हो जाता है। ज्ञानी के लिए यह विश्व मिथ्या या अवास्तविक है और ब्रह्म ही एकमात्र वास्तविक है (**'ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या'**)।[3]

[1] ज्ञान-योग पृ. 50

[2] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द (खण्ड-6), पृ. 32

[3] भारतीय दर्शन, पृ. 158

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि असत् सृष्टि सत् या वास्तविक क्यों दिख पड़ती है? इसका उत्तर यह है कि अज्ञानवश व्यक्ति एक ब्रह्म को सृष्टि के रूप में परिणत होता देखकर उसे भी ब्रह्म की भाँति सत् या वास्तविक मान लेता है। किन्तु वास्तव में ब्रह्म सृष्टि में परिणत नहीं होता। सृष्टि ब्रह्म का वास्तविक रूपान्तर नहीं है। यह तो ब्रह्म का एक आभासमात्र है। जिस प्रकार, जादूगर की चाल समझने वाला व्यक्ति उसके चक्कर में नहीं आता, ठीक उसी प्रकार ज्ञानी भी सृष्टि को ब्रह्म का विवर्त मात्र मानकर इसे अवास्तविक समझ लेता है।

सृष्टि की अवास्तविकता सिद्ध करने के लिए यहाँ पर एक भ्रम का उदाहरण दिया गया है। सृष्टि रस्सी में दिखाई पडने वाले सर्प के समान है। सर्प का आधार रस्सी है और सृष्टि का आधार ब्रह्म है। जिस प्रकार सर्प रस्सी के वास्तविक रूप को ढँक देता है, उसी प्रकार 'सृष्टि' भी ब्रह्म के वास्तविक रूप को छिपा देती है। जिस प्रकार रस्सी में दिख पडने वाला सर्प वास्तविक नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म के रूप में दीख पड़ने वाला सृष्टि वास्तविक नहीं कहा जा सकता।

आचार्य शंकर **तीन** प्रकार की सत्ता मानते हैं-(1) **प्रातिभासिक सत्ता** (2) **व्यावहारिक सत्ता** और (3) **पारमार्थिक सत्ता**। प्रातिभासिक सत्ता क्षणिक हैं इसका खण्डन जाग्रत अनुभव द्वारा हो जाता है। व्यावहारिक सत्ता व्यावहारिक दृष्टिकोण से सत्य है। इसके अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं को जाग्रत अवस्था में भी सत्य माना जाता है, किन्तु तार्किक युक्तियों द्वारा इनका खण्डन संभव है। पारमार्थिक सत्ता हर दृष्टिकोण से सत्य है। इसका खण्डन किसी प्रकार भी संभव नही है। यह विशुद्ध सत्ता है। 'ब्रह्म' पारमार्थिक सत्ता का उदाहरण है।[1] उपर्युक्त तीनों

[1] भारतीय दर्शन, पृ. 158

प्रकार की सत्ताओं में **सृष्टि को व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत रखा गया है।** सृष्टि न तो स्वप्न या भ्रम की भाँति असत्य है और न ब्रह्म की भाँति सत्य। इसकी स्थिति इन दोनों के मध्य की है। यह स्वप्न या भ्रम से अधिक सत्य है और ब्रह्म से कम सत्य है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से सृष्टि की सत्यता में विश्वास आवश्यक है। इससे हमें दैनिक में सफलता मिलती है। किन्तु, पारमार्थिक दृष्टिकोण से सृष्टि को असत्य कहा जाता है।

श्री रामकृष्ण देव कहते हैं कि ''जब तक ईश्वर का ज्ञान नहीं होता तब तक यह संसार सत्य दिखलाई पड़ता है। तब तक मनुष्य उन्हें भूलकर 'मैं-मेरा' करते हुए माया में बद्ध होकर, कामिनी, कांचन के मोह में मुग्ध होकर संसार में और भी डूबता जाता है। माया के कारण मनुष्य इतना अन्धा हो जाता है कि जाल में से भागने का रास्ता रहने पर भी नहीं भाग पाता। संसार इस क्षण है तो दूसरे क्षण नहीं। यह अनित्य है। जिन्हें तुम इतना 'मेरा-मेरा' कह रहे हो, तुम्हारे आँखें बन्द करते ही वे कोई नहीं रहेंगे। संसार में कोई नहीं, फिर भी इतनी आसक्ति कि नाती के लिए काशी यात्रा नहीं हो पाती। कहते हैं-'मेरे बेटे हरि का क्या होगा?' जाल में से निकलने की राह खुली है, फिर भी मछली भाग नही सकती। रेशम का कीड़ा अपनी ही लार से कोश बनाकर उसमें फंसकर जान गँवा देता है। संसार इस प्रकार मिथ्या है, अनित्य है।''[1]

श्री रामकृष्ण के अनुसार ब्रह्म ज्ञान होने पर ही सृष्टि का मिथ्यात्व समझ में आता है। सृष्टि की भावभूमि पर खड़े होकर उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता। परमहंस देव कहते हैं- कि जो 'जगत् को मिथ्या' कहता है, वह क्या जगत् के अन्तर्गत नहीं है? यदि वह जगत् के अन्तर्गत है,

[1] अमृतवाणी, पृ. 117

तो वह मिथ्या है और यदि वह मिथ्या है तो उसकी सब बातें भी मिथ्या है। अतः उसका यह कहना कि 'जगत् मिथ्या है', यह बात भी मिथ्या हुई। लेकिन 'जगत् मिथ्या', यह बात तो मिथ्या नहीं है। वेदान्त जो 'जगत् मिथ्या' कहता है उसका कारण यह है कि 'एक उच्चतर भूमि पर आरूढ़ होकर निम्न भूमि को मिथ्या कहा जाता है।' जब तक मैं रज्जु में सर्प देखता हूँ, रस्सी को सर्प समझता हूँ, तब तक सचमुच के सर्प को देखने से जो अनुभव होता है, ठीक वैसा ही अनुभव होता है। साँप को देखकर जैसा भय होता है, वैसा ही 'भय' होता है। अतः इस अवस्था में साँप मिथ्या नहीं होता। साँप यदि मिथ्या होता तो भय नहीं होता। लेकिन यहाँ पर तो खासा भय हो रहा है। देखते ही हम डर के मारे भागते हैं, हृदय धड़कने लगता है। अतः इस अवस्था में साँप नितान्त सत्य है। इस सत्य को हम मिथ्या कहकर झुठला नही सकते। पर जब हमें रज्जु का ज्ञान होता है, जब हम रस्सी को जान लेते हैं, तब हम कहते हैं कि वह साँप नहीं, रस्सी है। इसलिए जब तक सर्प का ज्ञान नहीं होगा, तब तक यह सर्प मिथ्या नहीं है। अर्थात् **जब तक ब्रह्म को न जान लिया जाय, तब तक जगत् मिथ्या नहीं होता।**

निष्कर्ष –

श्री रामकृष्ण देव कहते है कि वस्तुतः सृष्टि आकाशकुसुम या बंध्या-पुत्र की तरह मिथ्या नहीं है, वरन् भ्रम की भाँति असत् है। वे सृष्टि को कर्पूर के समान मानते हैं। जिस प्रकार कर्पूर के जलने पर कुछ भी अवशेष नहीं रहता, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म-साक्षात्कार होने पर सृष्टि (जगत्) का भी अवशेष विद्यमान नहीं रहता। सृष्टि भ्रम की भाँति अदृश्य हो जाती है। इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में श्री रामकृष्ण देव ने इस प्रकार समझाने की चेष्टा की है कि जब तक नमक जल से पृथक् होता है, उसका पृथक् अस्तित्व बना रहता है, पर जल के भीतर समाहित होने पर

उसका पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान प्राप्त होने पर सृष्टि का पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है।'

स्वामी विवेकानन्द भी आचार्य शंकर के समान ही, सत्य की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि जो देश, काल और कार्य-कारण से अनवच्छिन्न हो वही सत्य है।[1] यहाँ पर एक प्रश्न यह किया जा सकता है कि यदि एक निरपेक्ष सत् है परम् सत् है, तो देश, काल, कारणता के प्रत्यय कैसे उत्पन्न हो जाते हैं? यदि वे निरपेक्ष सत् में नही है तथा यदि सृष्टि इन्हीं के माध्यम से होती है, तो सृष्टि निरपेक्ष सत् से स्वतंत्र हो जाती है। किन्तु, उस अवस्था में ब्रह्म का एकवादी रूप खण्डित हो जाता है जो विवेकानन्द जी को अभीष्ट नही है। प्रत्युत्तर में स्वामी जी का कहना है- 'देश, काल और कारणता तात्विक सत् नहीं हैं। कुछ आकार या रूपमात्र हैं जो किसी सन्दर्भ में तात्विक सत् की अभिव्यक्ति के माध्यम हो सकते हैं।' ये ऐसे रूप हैं, आकारिक माध्यम हैं, जिनके माध्यम से सृष्टि व्यक्त होती है। रुपया आकारिक माध्यम है वास्तविक सत्ता नहीं। किन्तु उसे असत् नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह स्वतंत्र सत्ता की अभिव्यक्ति का माध्यम है। इस तथ्य को सागर तथा उसकी लहरों के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है- तरंगें सागर में ही उठती हैं किन्तु सागर से भिन्न भी हैं। जब लहरें शान्त रहती हैं तो मात्र सागर रहता है किन्तु, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि लहरें असत् या भ्रामक हैं। सागर की अभिव्यक्ति का एक ढंग, एक रूप लहरों का भी है। इसी कारण जब तक लहरें उठती रहती हैं वे सागर का वास्तविक चित्र ही प्रस्तुत करती हैं। ज्ञानयोग में विवेकानन्द कहते हैं 'समुद्र की तरंगों को लो। तरंग अवश्य समुद्र के साथ अभिन्न है फिर भी हम उसको तरंग कहकर समुद्र से पृथक् रूप में जानते हैं। इस विभिन्नता का कारण क्या है? **नाम** और **रूप**। नाम अर्थात् उस वस्तु के सम्बन्ध में हमारे मन मे

कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, (खण्ड-3), पृ. 13

जो एक धारणा रहती है वह और रूप अर्थात् 'आकार', पर क्या हम तरंग को समुद्र से बिल्कुल पृथक् रूप में सोच सकते हैं? नहीं। कभी नहीं। वह तो सदैव इस समुद्र की धारणा पर ही निर्भर रहती है। यदि यह तरंग चली जाय तो रूप ही अन्तर्हित हो जायेगा फिर भी ऐसी बात नहीं कि यह रूप बिल्कुल भ्रमात्मक था। जब तक तरंग थी तब तक यह रूप भी था और तुमको बाध्य होकर यह रूप देखना पड़ता था।

विवेकानन्द के जागतिक विचार आचार्य शंकर के विचारों से मेल खाते हुए भी कुछ नवीनता लिए हुए हैं। उनके अनुसार जगत् को पूर्णतः असत् नहीं माना जा सकता। ईश्वर एकमात्र सत् है, किन्तु जगत् ईश्वर की हीं सृष्टि होने के कारण ईश्वरीय है और इस दृष्टि से वह भी सत् है। विवेकानन्द के अनुसार अद्वैत वेदान्त में प्रतिपादित जगत् मिथ्यात्व का एक विशिष्ट अर्थ है। ब्रह्म के स्थायित्व तथा उसकी शाश्वतता के परिप्रेक्ष्य में जगत् को मिथ्या कहा गया है। जगत् अस्थायी तथा सतत् परिवर्तनशील है। जगत् में ऐसी अवस्था आती ही नहीं कि उसमें स्थायित्व हो। अतः जगत् का निश्चित शाश्वत तथा पूर्णतया निरपेक्ष स्वरुप निश्चित ही नहीं किया जा सकता । इस अर्थ में जगत् मिथ्या है। किन्तु, जिस रूप में जगत् है, जिस रूप में जगत् की अनुभूति होती है वह उसकी वास्तविक अनुभूति है।

जगत् को उसकी वास्तविक अनुभूति के रूप में स्वीकार करते हुए वे व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्त होने का उपदेश देते हैं। वे अपने देश एवं उसके निवासियों को जाग्रत देवता के रूप में देखते हैं। किन्तु, जब वे विशुद्ध दार्शनिक अंदाज में जगत् की व्याख्या करते हैं तब एकमात्र सत्य 'परम ब्रह्म' होता है। शेष सभी कुछ जगत् आदि मिथ्या हो जाते हैं।

अतः यह स्पष्ट होता है कि श्री रामकृष्ण देव और विवेकानन्द औपनिषदिक चिन्तन परम्परा से प्रभावित थे तथा उसे अपने तत्कालीन सामयिक परिवेश में व्यावहारिक बनाने का प्रयास कर रहे थे।

6

अद्वैत वेदान्तिक मायावाद की अवधारणा -

1. माया का अर्थ एवं स्वरूप
   (i) माया की विशेषताएँ,
   (ii) माया की शक्तियाँ
   (iii) माया और अविद्या
2. श्री रामकृष्ण के अनुसार माया का स्वरूप
3. विवेकानन्द के अनुसार माया का स्वरूप
5. मायावाद तथा श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द के विचारों की समीक्षात्मक व्याख्या

अद्वैत वेदान्तिक मायावाद की अवधारणा

माया की अवधारणा अद्वैत वेदान्त के रहस्य की कुंजी है। इसके ज्ञान के बिना कोई व्यक्ति अद्वैत वेदान्तिक परमसत्ता की अवधारणा को नहीं समझा सकता। समस्त भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की भांति अद्वैत वेदान्त भी इस बात पर सहमत है कि अविद्या, अज्ञान, माया, भ्रमादि का अस्तित्व अनादि काल से है। अविद्या या माया बहुत थोडे से अंतर के साथ पर्यायवाची ही हैं। वह अनादि है, लेकिन अनन्त नहीं है वरन् सान्त है क्योंकि इसका विनाश सम्भव है। जहां शंकराचार्य के अनुसार भ्रम पर आधारित दृष्टिकोण बदलकर उसे सत्य पर आधारित करना ही अविद्या निवृत्ति के लिए पर्याप्त है, वहीं जैन दार्शनिक कहते हैं कि दृष्टिकोण का बदलना ही पर्याप्त नहीं है, हमारी ज्ञान-शक्तियाँ कर्म-पुद्‌गलों के आत्मा में प्रवेश करने के कारण सीमित हो गयी हैं। कर्म-पुद्‌गलों को वास्तविक रूप से आत्मा से बाहर करना होगा। जैसे-पेट में गये जहर को बाहर किया जाता है अथवा पैर में धंसे कांटे को बाहर निकालना होता है। प्रत्येक भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में अविद्या निवृत्ति की पद्धतियाँ अलग-अलग हैं, लेकिन सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय अविद्या के अस्तित्व को स्वीकार कर उसकी पूर्ण निवृत्ति के लिए कटिबद्ध हैं।

(1) माया का अर्थ एवं स्वरूप -

'माया' शब्द संस्कृत वाङ्‌गमय का एक सारगर्भित शब्द है जिसका पर्याय अन्य वाङ्‌गमयों में दुर्लभ है। इसकी व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गयी है और की जा सकती है -

I- मा + आ + या + घ +घञ् अर्थात्, जो 'मा' (नहीं) है और

'आया' है वह माया है। शैव दर्शन में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है– **'मात्यस्यां शक्तवात्मना प्रलये सर्व जगत्सृष्टो व्यक्तिमायातीति 'माया',** अर्थात् प्रलय दशा में जिसको समस्त जगत् शक्ति रूप में मापा जाता है और सृष्टि दशा में जो अभिव्यक्त होती है वह माया है। इस प्रकार माया का अर्थ 'जगत् की मूल प्रकृति' है।

II- मा + या। मा = जो कुछ (यत्किंचित्) अर्थात माया का अर्थ 'न–सत्' या 'नासत्' है। प्लेटो के शब्दों में इसे मी–यान (Me-on) कहा गया है। यहाँ Me का अर्थ Non being है और On का अर्थ True है। अर्थात् Me-on से प्लेटो का तात्पर्य अनस्तित्व (Non-being) है।

III- मा = मापना। अर्थात् **'मीयते या सा माया'**। अर्थात् जो मापा जाता है वह माया है। आधुनिक विज्ञान ने भी माना है कि जो मापनीय है वह वास्तविक है और जो वास्वतिक है वह मापनीय है।

इसी मत का प्रारंभिक स्वरूप मायावाद में मिलता है जिसके अनुसार जो कुछ मेय (दृश या ज्ञेय विषय) है वह वास्तविक (माया) है और जो वास्तविक (माया) है वह मेय है। इसी तथ्य को संशोधित और परिवर्द्धित करते हुए जर्मन निरपेक्ष–प्रत्ययवादी दार्शनिक **हेगेल** ने कहा था – **बोध ही सत्ता है और सत्ता ही बोध है।**

IV- **ब्रह्मवैवर्त पुराण** के 27वें अध्याय में माया की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है –

''माश्च मोहार्थ वचनः याश्च प्रापण वाचकः

तां प्रापयति या नित्यं सा माया प्रकीर्तिता ।।''

'मा' का अर्थ मोह है और 'या' का अर्थ प्रापण (प्राप्त कराने वाला) है। जो मोह को प्राप्त कराता है वह माया है। इस दृष्टि से माया

के साथ मोह शब्द भी जुड गया है और लोक व्यवहार में मोहमाया और मायामोह शब्द प्रचलित हो गये हैं। किन्तु, ये शब्द वास्तव में माया का अर्थ बताते हैं और माया का संबंध मोह से जोड़ते हैं। जिससे लोग मुग्ध होते हैं (मुह्यन्ति) वह मोहमाया या माया है।

V- **माध्व वेदान्त** के अनुसार -

मय + अण् = माय (अर्थात 'मय' यानी प्रकृष्ट)

मय + टाप् (आ) = (अजाद्यस्य टाप) स्त्री प्रत्यय

= माया

अर्थात् माया जगत् की मूल प्रकृति है।

(1) (i) माया की विशेषताएँ–

माया शब्द का प्रयोग प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में हुआ है, लेकिन **मायावाद मूलतः वेदान्त का सिद्धान्त है।** अद्वैत वेदान्त से भिन्न मतावलम्बी दर्शन माया का प्रयोग असत्, इन्द्रजाल, भ्रम, स्वप्न, रहस्य, मोह आदि अर्थों में करते हैं, लेकिन अद्वैत वेदान्त माया शब्द को इन अर्थों से भिन्न अर्थों में प्रयुक्त करता है। अद्वैत वेदान्त में माया शब्द का प्रयोग मुख्यतः तीन अर्थों में हुआ है जो 'विद्यारण्य स्वामी' कृत **'पंचदशी'** में इस प्रकार वर्णित है -

''तुच्छा निर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।

ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिक लौकिकः।।''

माया को तुच्छ, अनिर्वचनीय और वास्तविक जानना चाहिए। श्रुति से ज्ञान होता है कि माया तुच्छ है, युक्ति से ज्ञात होता है कि माया अनिर्वचनीय है अर्थात् सत्, असत् से विलक्षण है और प्रत्यक्ष से ज्ञात

होता है कि माया वास्तविक है। इस प्रकार माया की अवधारणा में (1) **तुच्छ** अर्थात् अलीकता या नितान्त असत्, (2) **अनिर्वचनीयता** या सद्-असद् से विलक्षणत्व और (3) **वास्तविकता**से तीन प्रत्यय संपुटित हैं। पारमार्थिक दृष्टि से जगत् असत् है क्योंकि परमार्थतः एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। व्यावहारिक दृष्टि से जगत् सत् है और जगत् का अस्तित्व भ्रम या स्वप्न के समान नहीं है।

शंकराचार्य ने माया को जगत् की उत्पत्ति का कारण बताते हुये उसके विशेषणों की इस प्रकार गणना किया है –

"अव्यक्तनाम्नी परमेश शक्तिः अनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया माया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते।।"

माया की विशेषताओं को निम्नवत् दिखाया जा सकता है –

I- सांख्य की प्रकृति की तरह माया जड़ और अचेतन है। सांख्य की प्रकृति जिस प्रकार पुरुष से भिन्न है उसी प्रकार माया भी ब्रह्म से भिन्न है। किन्तु, प्रकृति की तरह माया न तो वास्तविक है और न ही स्वतंत्र।

II- माया ब्रह्म की शक्ति है। यह पूरी तरह से ब्रह्म पर निर्भर है। वह उससे स्वतंत्र नहीं हो सकती। माया और ब्रह्म के बीच तादात्म्य संबंध है, जिसे One sided dependent relation कहा जाता है।

III- माया ब्रह्म की शक्ति होने कारण अनादि है। यह सान्त है, क्योंकि ज्ञान प्राप्ति के बाद इसका अन्त हो जाता है।

IV- माया भावरूप है। यह यथार्थ नहीं है। माया के दो पहलू हैं- (1) **निषेधात्मक पहलू,** जिसमें वह सत् वस्तु का आवरण है और उसको छिपाये रहती है और (2) **भावानात्मक पहलू** जिसमें में वह ब्रह्म के विक्षेप के रूप में जगत् की सृष्टि करती है। वह अज्ञान भी है और

मिथ्या ज्ञान भी।

V- माया अनिर्वचनीय शक्ति है क्योंकि वह न सत् है, न असत् है और न दोनों। वह सत् नहीं है क्योंकि, ब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता सत् नहीं है। वह असत् नहीं है क्योंकि, जगत् को प्रक्षेपित करती है। इसे सद्-असद् कहना वदतोव्याघात है। अतः माया सदसद् निर्वचनीय है।

"ना सद्रूपा न त्द्रूपा मायानेवोभयात्मिका।

सदसद्भ्यां निर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी।।"

VI- माया व्यावहारिक और विवर्त-मात्र है।

VII- यद्यपि माया का विषय और आश्रय दोनों ब्रह्म हैं फिर भी ब्रह्म इससे अप्रभावित रहता है। जैसे - जादूगर स्वयं अपनी जादू से अप्रभावित रहता है।

VIII- माया त्रिगुणात्मिका है। अतः इसका सत्व, रज और तम युक्त होना आवश्यक है। इन्हीं तीन गुणों के कारण जगत् में वैभिन्य आता है। ये तीनों गुण माया के विशेषण होते हुये भी उसके स्वरूप ही हैं क्योंकि, इसके बिना माया का कोई अस्तित्व नहीं है।

IX- भाव रूप होते हुए भी माया ब्रह्म-ज्ञान के अनन्तर नष्ट हो जाती है। अतः ज्ञान के द्वारा भी उसे वैसे नहीं जाना जा सकता है, जैसे प्रकाश से अंधकार को नहीं जाना जा सकता है-

"अज्ञानं ज्ञातुमिच्छेद, यो ज्ञानेनात्ममूढ़धीः।

स तु नूनं तमः पश्येद्दीपनोत्तम तेजसा।।"

इस प्रकार माया की इन विशेषताओं द्वारा शंकर एवं अन्य अद्वैत वेदान्तियों ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि एक मात्र ब्रह्म ही सत्

है। माया रूपी जगत् का कोई अस्तित्व नही है।

1 (ii) माया की शक्तियाँ –

शंकराचार्य के अनुसार माया की दो शक्तियाँ हैं–

"शक्ति द्वयम् ही मायया विक्षेपावृन्तिरूपकम्।

विक्षेपशक्तिर्लिंगम् ब्रह्मणान्त जगत् सृजेत ।।"

(1) आवरण (2) विक्षेप

आवरण–शक्ति के द्वारा माया वस्तु के वास्तविक स्वभाव व स्वरूप को ढ़ॅक लेती है तथा विक्षेप शक्ति के द्वारा वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोपण कर देती है। जिस प्रकार जादूगर अपने जादू के बल से कंकड के असली स्वरूप को ढक कर उसकी जगह चांदी के सिक्के को दिखाता है वही नवीन वस्तु की कल्पना है। ठीक इसी प्रकार माया ब्रह्म के आपसी स्वरूप को ढ़ँककर उसमें जगत् का आरोपण कर देती है – आवरण (निषेधात्मक), विक्षेप (भावानात्मक), एक तीसरी शक्ति 'असली शक्ति' भी है, जिसका कार्य दूषित करना है। अर्थात् यह जगत् को दुःखमय बना देती है।

1 (iii) माया और अविद्या –

शंकर ने 'अविद्या' तथा 'माया' शब्दों के प्रयोग में कोई विशेष भेद नहीं किया, किन्तु परवर्ती अद्वैतवादी दोनों के मध्य भेद करते हैं। जहां एक ओर माया ईश्वर की **'कार्योपाधिश्यं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः'** उपाधि है, दूसरी ओर, अविद्या व्यक्ति की उपाधि है। **'विद्यारण्य'** के अनुसार – माया में ब्रह्म का वह प्रतिबिम्ब रूप जो विशुद्ध संचरण से युक्त है; ईश्वर है, दिखता है– एवं अविद्या में ब्रह्म का वह प्रतिबिम्ब रूप जिसमें रजोगुण तथा तमोगुण भी उपस्थित है जो जीव अथवा जीवात्मा है,

प्रतिबिम्बित होता है। जो सर्वोच्च ब्रह्म है वह विशुद्ध प्रतिबन्ध के साहचर्य से तब निम्न–श्रेणी का ईश्वर बन जाता है जब कोई इसके विषय में विचार करता है। यह जगत् ईश्वर के स्वरूप की अभिव्यक्ति है, यह मनुष्य के तार्किक मस्तिष्क के ऊपर भी सापेक्ष रूप से निर्भर है। जगत् की वस्तुएं दोनों ही प्रकार की हैं, अर्थात् दैवीय मस्तिष्क के विचार तथा मानवीय–ज्ञान के प्रस्तुत विषय।

ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण कहा गया है साथ ही जगत्, जिसका ईश्वर की निजी आत्मा के साथ संबंध है, अविद्या के द्वारा निर्मित भी कहा गया है। ब्रह्म और माया विश्व के अन्दर विद्यमान हैं और जगत् के उपादान कारण हैं। दोनों ही एक सूत्र में आबद्ध हैं, एक यथार्थ है और दूसरा विवर्त्त (आभास) ।

माया में सत्व–गुण की प्रधानता है जबकि अविद्या में तमोगुण की। किन्तु, शंकर के अनुसार जब हम विषय की दृष्टि से विचार करते हैं तो 'माया' शब्द का तथा जब विषयी की दृष्टि से विचार करते हैं तो 'अविद्या' शब्द का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः ब्रह्म और जीव की तरह माया और अविद्या एक ही हैं।

प्रश्न उठता है कि क्या मायावाद औपाधिक शक्तिवाद है? इसका उत्तर है – हाँ। उपाधि का सम्प्रत्यय मायावाद का केन्द्र–बिन्दु है जिसके बिना मायावाद को नहीं समझा जा सकता। जब कोई पदार्थ अपने में विद्यमान गुणों की तरह उनका आरोप अपने संबंधी में करता है तब उस पदार्थ को 'उपाधि' कहते हैं। जैसे– गुड़हल का पुष्प स्फटिक की उपाधि है क्योंकि यह पुष्प अपने में विद्यमान लाल रंग को अपनी ही तरह अपने संबंधी स्फटिक में आरोपित कर देता है। उसी प्रकार माया वस्तुतः ब्रह्म की उपाधि है। वह अपने गुणों का आरोपण ब्रह्म में कर देती है। इसी

कारण ब्रह्म के दो रूप हो जाते हैं।

(1) मायायुक्त ब्रह्म या निरूपाधिक ब्रह्म (स्वरूप लक्षण) – 'सत्यंज्ञानमनन्तम् ब्रह्म'।

(2) मायामुक्तब्रह्म या सोपाधिक ब्रह्म (तटस्थ लक्षण) – 'जन्माद्ययस्य यतः'।

माया व्यवहारतः सत् और परमार्थतः असत् है तथापि यह ब्रह्म के संसर्ग में है। यह संयोग या संसर्ग सांख्य की तरह प्रकृति-पुरूष संयोग नहीं है बल्कि यह आभासिक संयोग है। अर्थात् यह प्रतीत होता है लेकिन, वस्तुतः होता नहीं है। आभासिकता ब्रह्म की लीला है। अतः लीलावाद मायावाद ही है।

वस्तुतः माया को बुद्धितत्व से गम्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि बुद्धि कार्य रूप है। सृष्टिक्रम में उसका आविर्भाव हुआ है और यह आविर्भाव प्रधानतः माया के ही सत्वगुण से हुआ है। अद्वैत वेदान्त की सृष्टि-मीमांसा में माया के राजसिक पक्ष से पंचप्राणों की उत्पत्ति, 'सत्वपक्ष' से अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति एवं 'तमस्पक्ष' से नत्मात्राएं एवं महाभूतों की उत्पत्ति बतलाई गई है। इस प्रकार बुद्धि एक कार्य है, रचना है, सृष्टि है जिसका कारण माया है। संक्षेप में, **माया ही संसार की सृष्टि और सृष्टिकर्ता तथा समस्त सांसारिक व्यवहारों की व्याख्या है।**

(2) श्री रामकृष्ण के अनुसार माया का स्वरूप –

श्री रामकृष्ण देव भी शंकर की ही भांति माया को ब्रह्म की अभिन्न शक्ति मानते हैं, जो ब्रह्म के तटस्थ लक्षण– **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ....** के सन्दर्भ में उसकी कार्यकरणात्मिका शक्ति है। यही शक्ति

आद्या-शक्ति, माँ, काली आदि संज्ञाओं से अभिहित है। ब्रह्म की शक्ति के रूप में माया की कल्पना परम्परागत औपनिषदिक दर्शन में प्राप्त है। माया का यह शास्त्रीय रूप है। स्वामी रामकृष्ण भी अपनी माया-सम्बन्धी विचार इसी पृष्ठभूमि में अभिव्यक्त करते हैं।

श्री रामकृष्ण देव जी के अनुसार माया, जीवन और जगत् का एक तथ्य है, कोरा सिद्धान्त नहीं। उस तथ्य को चाहे हम जड कहें या चेतन, वस्तुस्थिति वही रहेगी अर्थात् हमारे कथन से वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नही पड़ता। हम यह नहीं कह सकते कि उनका भाव है, हम यह भी नहीं कह सकते कि उनका अभाव है। हम यह नही कह सकते कि वे एक हैं और न हीं यह कह सकते हैं कि वे अनेक हैं। प्रकाश और अन्धकार की सह-स्थिति यहाँ शाश्वत है जो अपृथक और अविभाज्य है। यह एक तथ्य है और एक ही समय तथ्य नहीं भी है, जाग्रत है और उसी समय सोया भी है-यह तथ्यात्मक विवरण है और इसे ही 'माया' कहते हैं।[1] यही वचन-विन्यास के परे अनिर्वचनीय है। यह अद्वैत की अनिवर्चनीयता की एक नयी व्याख्या है। माया का स्वरूप श्री रामकृष्ण देव के मत में ठीक आचार्य शंकर का स्वीकृत रूप जैसा न होकर वैष्णव आचार्यों से मिलता-जुलता है। **विद्या-माया** और **अविद्या-माया** के भेद से माया दो प्रकार की है।[2] प्रथमा ईश्वर प्राप्ति में सहायिका है एवं द्वितीया विषय बुद्धि को उत्पन्न कर ईश्वर स्वरूपवर्तिका है।[3]

[1] *टीचिंग्स* ऑफ रामकृष्ण, पृ0 12
[2] *वही*, पृ0 12
[3] *ज्ञान-योग*, रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ0 58

(3) — विवेकानन्द के अनुसार माया का स्वरूप -

स्वामी विवेकानन्द जी माया के स्वरूप के बारे में प्रश्न उठाते हुये कहते हैं कि माया न सत् है और न असत् है, इसका क्या अर्थ है? 'जगत् मिथ्या है' इसका क्या अर्थ है? स्वामी जी कहते हैं 'इसका अर्थ है कि उसका निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है।' प्रायः लोग भ्रान्तिवश माया को भ्रम कहकर उसकी व्याख्या करते हैं। अतएव जब हजगत् को माया कहते हैं तो उसे भी भ्रम ही कहकर उसकी व्याख्या करनी पड़ती है। परन्तु, माया को भ्रम के अर्थ में लेना ठीक नहीं हैं माया कोई विशेष सिद्धान्त नहीं है। वह तो– यह संसार जैसा है– केवल उसका तथ्यात्मक कथन है।[1]

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि माया वस्तुतः नामरूप के सिवाय और कुछ नहीं है। यदि नामरूप का त्याग कर दिया जाय तो परमतत्त्व ही अवशिष्ट रह जायेगा। जो भी पार्थक्य और परिवर्तन प्रतीत होता है वह उस नामरूप के कारण ही होता है।[2] इसी को दूसरे शब्दों में देश, काल व निमित्त कहते हैं। अद्वैत वेदान्त के समान स्वामी जी भी माया की सद्सद्निर्वचनीयता करते हैं। "माया के विषय में न तो यह कहा जा सकता है कि उसका अस्तित्व नहीं है क्योंकि, उसी ने समस्त भेद उत्पन्न किए हैं, न ही इसके विषय में यह कहा जा सकता है कि उसका अस्तित्व है क्योंकि, वह सदैव दूसरे पर ही आश्रित रहती है।"[3] यद्यपि परमार्थतः उसका अस्तित्व नही है, फिर भी व्यवहार में उसे अनिर्वचनीय कह सकते हैं।

[1] टीचिंग्स ऑफ रामकृष्ण, पृ0 12

[2] थॉट्स ऑफ वेदान्त, पृ0 9

[3] वही, (खण्ड 2), पृ0 275-76

माया मनुष्य जीवन और जगत् के सापेक्षित अस्तित्व का प्रतिपादन करती है। ''जगत् सत् और आभास तथा निश्चय और भ्रम का एक अपरिभाष्य मिश्रण है।[1] माया शब्द का यह तात्पर्य नहीं है कि जगत् 'विशुद्ध-भ्रम' या 'विभ्रम' है। 'माया' शब्द का केवल यही अर्थ है कि यह असंगतियों और व्याघातों से परिपूर्ण है। अतः यह सत् नहीं हो सकता। स्वामी जी अपने व्याख्यान में स्पष्ट शब्दों में कहते है कि 'जगत् न सत् हैं और न असत् ही। तुम इसे सत् नहीं कह सकते क्योंकि वास्तविक रूप में सत् वहीं हो सकता है जो देश और काल से अतीत हो तथा स्वयंभू हो। इतना होते हुए भी जगत् के भीतर कुछ न कुछ सत् अवश्य पाया जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि इसके भीतर आभासी सत् है।''[2] इसके विपरीत ब्रह्म पूर्ण सत् है क्योंकि वहाँ विरोध, व्याघात या असंगति नाममात्र के लिए भी नही है। वहाँ सभी असंगतियों का शमन हो जाता है।

उपर्युक्त बातों से यह अर्थ कदापि नहीं निकाल लेना चाहिए कि वह वस्तु जिसमें असंगतियाँ या विरोधाभास पाए जाते हैं, वह बिल्कुल निरर्थक है। संसार की कोई वस्तु सार्थक है या निरर्थक है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या है? अथवा व्यवहार में हम उस वस्तु का किस प्रकार प्रयोग करते हैं? विज्ञान का एक उदाहरण देते हुए स्वामी जी कहते हैं कि आक्सीजन और हाइड्रोजन मिलकर एक ऐसे गैस का भी निर्माण कर सकते हैं जो विनाशकारी अग्नि को उत्पन्न करती है।[3] माया शब्द का प्रयोग बहुधा अज्ञान, असत्य, मोह, लोभ, आसक्ति, बन्धन, वासना, काम इत्यादि भावनाओं के लिए किया

[1] हार्वर्ड के दर्शन परिषद में दिए गए भाषण से, 25 मार्च 1896

[2] सेलेक्टेड वर्क्स, पृ0 105

[3] श्री रामकृष्ण के सिद्धान्त (गॉस्पेल), पृ0 94

जाता है। यही कारण है कि साधु, सन्त और दार्शनिक लोग माया के त्याग का पाठ पढ़ाते हैं। लोग कहते हैं कि संसार-त्याग से ही हमें मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार यह निराशावादी दृष्टिकोण है। जगत् में सर्वत्र बुराईयां ही नहीं पाई जातीं, यह सत्-असत्, पुरुष-प्रकृति, स्वतंत्रता-परतंत्रता और बुद्धि-वासना दोनों का समुच्चय है। ''हमें माया के साथ संघर्ष करते हुए उस वस्तु तक पहुँचना है जो माया से अतीत है।'' यह सोचकर कि जगत् में अशुभ पाया जाता है, जगत् का परित्याग नहीं करना चाहिए। जो मनुष्य यह कहता है कि 'संसार को पूर्ण मंगलमय हो जाने दो, तब मैं कार्य करूंगा और आनन्द भोगूंगा, उसकी बात उसी व्यक्ति की तरह है जो गंगातट पर बैठकर कहता है कि जब इसका सारा पानी समुद्र में पहुँच जाएगा तब मैं इसके पार जाऊँगा। दोनों बातें असंभव हैं।''[1] मोक्ष का मार्ग माया के साथ ही नहीं, वह माया के विरुद्ध है। हम प्रकृति के सहायक रूप में जन्म नहीं लिए हैं वरन् प्रकृति के विरोधी होकर जन्म लिए हैं। ''मानव-जाति का इतिहास प्राकृतिक नियमों के साथ उसके युद्ध का इतिहास है और अन्त में मनुष्य ही प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है।''[2] अतः विवेकानन्द निराशावादी न होकर पूर्ण आशावादी विचारक हैं।

विवेकानन्द के अनुसार माया जीवन का एक तथ्य है। इसके द्वारा हमें पता चलता है कि जगत् की यथावत स्थिति क्या है? संसार की सभी वस्तुएं स्थित है। इनका ज्ञान हमें होता है, यह तथ्य है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः जगत् की तथ्यात्मक स्थिति का ज्ञान हमें माया के कारण ही होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जगत् में विभिन्न प्रकार के पदार्थ स्थित हैं। जगत् के सभी पदार्थों को यथावत

[1] ज्ञान-योग, रामकृष्ण मठ, नागपुर, (16 वाँ संस्करण), पृ0 56
[2] ज्ञान-योग, रामकृष्ण मठ, नागपुर, (16 वाँ संस्करण), पृ0 56

स्थित स्वीकार किए बिना हम जगत् के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं सोच सकते, न किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन कर सकते हैं। जगत् की कोई भी व्याख्या जागतिक-वस्तुओं को स्थित मानकर ही सम्भव है। यदि मान लें कि जगत् भ्रम है, इसकी सत्ता नहीं है, यह तो प्रतीति है परमार्थ नहीं, कल्पित है वास्तविक नहीं तो हम जगत् की व्याख्या नहीं कर सकते। अतः किसी भी व्याख्या के लिए आवश्यकता है कि व्याख्येय विषय की स्थिति को स्वीकार करें। संसार भौतिक और आध्यात्मिक विषयों से भरा है, यह एक तथ्य है जिसे माया कहते हैं। इस प्रकार माया संसार का सिद्धान्त नहीं वरन् जगत् का तथ्यात्मक (यथास्थिति का) विवरण है।[1]

इस तथ्यात्मक विवरण की विशेषता यह है कि इससे हमें विरोधो और व्याघातों का बोध होता है। विश्व बड़ा ही विचित्र है, यह विरोधों से भरा है। सुख का विरोधी दुःख, शुभ का विरोधी अशुभ, दिन का विरोधी रात, जीवन का विरोधी मृत्यु सभी विद्यमान हैं। इस प्रकार ऐसी कोई वस्तु नहीं, ऐसा कोई धर्म नहीं जिसका विरोधी वस्तु या धर्म न विद्यमान हो। यदि जन्म सत्य है तो उसका विरोधी मरण भी बिल्कुल सत्य है। जगत् की इस तथ्यगत स्थिति को हमें स्वीकार करना है। यही वास्तविक तथ्यात्मक विवरण है। प्रायः हम एक ही पक्ष को देखते हैं और उसके विरोधी विपक्ष पर ध्यान नहीं देते- यह तथ्यात्मक विवरण नहीं। जगत् के इस तथ्यात्मक विवरण की अभिव्यक्ति सरल नहीं। अभिव्यक्ति सकारात्मक या नकारात्मक होती है। हम भावात्मक या निषेधात्मक भाषा के माध्यम से ही किसी तथ्य को अभिव्यक्त करते हैं परन्तु, जहां भाव और उसका विरोधी अभाव एक ही साथ समान रूप से दिखाई पड़े, इसे अभिव्यक्त करना असाधारण कार्य है। ऐसी असाधारण स्थिति के लिए

[1] स्वामी विवेकानन्द के लन्दन में दिये गये भाषण से उद्धृत 1896

असाधारण भाषा का प्रयोग करना होगा। यह असाधारण भाषा का प्रयोग 'अनिर्वचनीय' कहलाता है। 'अनिर्वचनीय' वही है जो वचन-विन्यास के परे हो। दो विरोधी धर्म या गुण वाले वस्तुओं की अभिव्यक्ति वचन- विन्यास की विफलता का सूचक है। हम भाव और अभाव की अभिव्यक्ति एक ही साथ कैसे कर सकते हैं? यही तथ्यात्मक स्थिति की अनिर्वचनीयता है।

आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीति है, जिसकी भी प्रतीति है, वह अविद्या है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी अविद्यामूलक हैं। ऋग्वेद या अन्य प्राचीन-शास्त्रों की तरह शंकर माया को 'सर्वशक्तिमान ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति' मानते हैं। अपनी अनिर्वचनीय दिव्य-शक्ति के द्वारा ही वह विश्व की रचना करता है और स्वयं उससे अप्रभावित रहता है।[1] शंकर कहते हैं कि इस शक्ति को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा अन्यथा "इसके बिना ईश्वर को संसार का स्रष्टा नहीं माना जा सकता, क्योंकि कार्य-शक्ति के बिना यह क्रियाशील ही न हो सकेगा।"[2] इस माया अथवा कारण का आधार ईश्वर है उसे अव्यक्त कहते हैं। परमेश्वर की इसी माया को शास्त्रों में कभी-कभी 'आकाश' या कभी-कभी 'अक्षर' भी कहा गया है। श्रुति और स्मृति में जिसे प्रकृति कहा गया है, वह यही माया है और सर्वज्ञ ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाले जो नामरूप हैं; जिसे इस दृश्य जगत् का बीज कहा गया है और जिसे न सत् कह सकते हैं और न असत् वह माया ही है।[3]

[1] शा० भा० गीता, उपोद्घात।

[2] शा० भा० ब्रह्मसूत्र 1.4 3

[3] शा० भा० ब्रह्मसूत्र, 2.1 14

(4) मायावाद तथा श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द के विचारों की समीक्षात्मक व्याख्या –

माया के स्वरूप का वर्णन करते हुए श्री रामकृष्ण देव कहते हैं– 'माया को जानने की इच्छा के फलस्वरूप मुझे एक दिन दिव्य–दृष्टि प्राप्त हुई। मैंने देखा कि पानी की एक छोटी बूँद फैलकर एक बालिका का रूप धारण कर रही है। वह बालिका एक स्त्री का रूप धारण कर लेती है; पुनः एक बच्चे को जन्म देती है और ज्योंहि बच्चे ने जन्म लिया, उसे उठाकर वह स्त्री उसे एकदम निगल जाती है। इसी प्रकार उस स्त्री के गर्भ से कई बच्चे उत्पन्न हुए पर उत्पन्न होने के बाद ही उसने उन सभी बच्चों को खा लिया। इसके बाद मुझे ज्ञात हुआ कि वह स्त्री और कोई नहीं स्वयं माया ही थी।'[1] इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म की एक अचिन्त्य शक्ति 'माया' से ही इस समस्त जगत् प्रपंच की रचना होती है। वैसे ही जैसे पानी की बूँद, पानी की एक छोटी बूँद बनकर बालिका का रूप धारण कर रही है। पुनः वही माया सत्व, रज और तम् तीनों पक्षों से विकसित होती हुई जीव का रूप धारण करती है जिसमें समस्त ब्रह्माण्ड का सार विद्यमान होता है। जिसका प्रमाण स्वयं श्रुति है- **यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे** (छान्दोग्य–उपनिषद् का आरुणि–सिद्धान्त) ।

इस जीव भाव से ही अविद्याकृत बन्धनों की सृष्टि होती है जो पुनः जीवभाव को पोषित करते हैं।अतः अविद्या से अविद्याजनित उपादान उत्पन्न होते हैं और वे उपादान पुनः अविद्या में ही स्थित होते हैं । यही उस स्त्री का बच्चों को जन्म देना और पुनः उन बच्चों को खा जाना है। इसका एक दूसरा निहितार्थ यह भी है कि ईश्वर की माया ही सत् के वास्तविक स्वरूप पर आवरण डाल देती है और मुक्तावस्था में माया जीव के इसी

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश, स्वामी ब्रह्मानन्द, पृ0 10

अविद्या को अपने समष्टि रूप में विलीन कर लेती है। स्वामी विवेकानन्द बड़े सहज भाव से कहते हैं कि मेरे, तुम्हारे और अन्य सबके मन के सम्बन्ध में माया का केवल सापेक्ष अस्तित्व है। अतएव इसकी अपरिवर्तनीय, अचल, अनंत सत्ता नहीं है। पर इसको अस्तित्वहीन भी नही कहा जा सकता क्योंकि यह तो वर्तमान है और इसके साथ मिलकर ही हमें कार्य करना होगा। यह सत् और असत् का मिश्रण है।[1]

माया के स्वरूपाच्छेदक स्वभाव की ओर संकेत करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक व्याख्यान में कहा कि माया सर्वशक्तिमान् मनुष्य की शक्तियों को कुण्ठित कर देती है। वह उसे स्वरूप से च्युत् कर वाह्य विषयों में मृगमरीचिकाओं में भटकने को विवश कर देती है। वह एक युवक के, एक वैज्ञानिक के समस्त उल्लास, उमंग, उत्साह और आशाओं पर तुषारापात कर देती है। वही शक्ति माया है।[2] माया के स्वरूप में जो अर्न्तविरोध है उसे स्वामी जी ने अनेकशः रेखांकित किया है। वे कहते हैं कि संसार की प्रत्येक वस्तु विरूद्ध स्वभाव से युक्त है। 'जहाँ मंगल है, वहीं अमंगल भी है और जहां अमंगल है, वहीं मंगल भी है। जहाँ जीवन है वहीं मृत्यु छाया की भाँति उसका अनुसरण कर रही है। जो हँस रहा है उसी को रोना भी पड़ेगा। जो रो रहा है वह भी हँसेगा। यह क्रम बदला नहीं जा सकता।[3] यही माया है। विवेकानन्द के अनुसार 'मंगल और अमंगल' ये दो एकदम विभिन्न सत्ताएं नहीं हैं। इस संसार की ऐसी कोई वस्तु नही है जिसे एकदम शुभ या अशुभ कहा जा सके। सम्पर्ण जगत् ही शुभ और अशुभ का यौगिक है। इसीलिए स्वामी जी कहते हैं, ''यदि अमंगल को दूर करना चाहो तो साथ ही तुम्हें मंगल को भी दूर

[1] ज्ञान-योग, रामकृष्ण मठ, नागपुर (16 वाँ संस्करण), पृ0 16
[2] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, (खण्ड-2), पृ0 118-121
[3] ज्ञान-योग, रामकृष्ण मठ, नागपुर (16 वाँ संस्करण), पृ0 16

करना होगा। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। मृत्यु को दूर करने के लिए जीवन को भी दूर करना पड़ेगा। मृत्युहीन जीवन और दुःखहीन सुख परस्पर विरोधी बाते हैं। इनमें कोई सत्य नहीं है क्योंकि दोनों ही एक ही वस्तु के विकास हैं।''

माया का कारण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि यह प्रश्न तो विरोधाभास युक्त है। एक अनन्त और निरपेक्ष तत्व को स्वीकृत कर लेने पर माया की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं किया जा सकता। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु सद्रूप नहीं है जिसको माया का कारण माना जाए परन्तु ब्रह्म को भी माया की उत्पत्ति का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि वह कार्य-कारण के सम्बन्ध से परे है।[1] कार्य-कारण से परे क्यों, यह पूछना ही असंगत है। अतः इस विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि माया का कारण माया ही है अथवा भ्रम का कारण अज्ञान ही है।[2]

अब प्रश्न उठता है कि ब्रह्म और माया में क्या सम्बन्ध है? आचार्य शंकर कहते हैं कि प्रकृति इस माया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। **त्रिगुणात्मक माया ही सम्पूर्ण संसार की बीज है।** [3] वह समस्त इन्द्रियानुभाविक विश्व का कारण है। वही सब शरीरों और इन्द्रियों की रचना करती है। उसी से 'सोलह कार्य' और 'सात कार्य-कारण' उत्पन्न होते हैं।[4] तीन गुणों वाली माया ईश्वर की शक्ति है और वही संसार की सब वस्तुओं की मूल स्रोत है। इसे 'अव्यक्त' कहते हैं क्योंकि इसका वर्णन न सत् कहकर किया जाता है और न असत् कहकर। जिस प्रकार

[1] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द (खण्ड-4), पृ० 299
[2] विवेकानन्द साहित्य (खण्ड-6), पृ० 288
[3] शां० भा० गीता, 7.4, 13.19, 13.29
[4] वही 13.20

शक्ति शक्तिमान से अभिन्न होती है वैसे ही माया ईश्वर की शक्ति होने के कारण उनसे अभिन्न है।[1] वास्तव में, शंकर के ब्रह्मवाद में जिस किसी वस्तु का अस्तित्व है वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है किन्तु अभिन्नता से शंकर का तात्पर्य तादात्म्य नहीं है। श्री वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि शंकर के लिए अभिन्नता का अर्थ भिन्नता को अस्वीकार करना मात्र है। इसका अर्थ तादात्म्य स्वीकार करना नहीं है।[2] शंकर के मतानुसार माया ईश्वर की वह आश्चर्यजनक रचनात्मक संकल्पशक्ति है। जिसमें असीम कारण-कार्य शक्यता है। शंकर ने विशेष रूप से यही दिखाने का प्रयत्न किया है कि इस विश्व की उत्पत्ति आदि का कारण मायोपहित ईश्वर ही है। अर्थात् शंकर के अनुसार संसार की कारण-शक्ति केवल माया है और उस माया का आश्रय और आधार सर्वशक्तिमान ईश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

श्री रामकृष्ण देव कहते हैं कि ब्रह्म और माया के बीच वही सम्बन्ध है जो स्थिर सर्प और गतिशील सर्प के बीच होता है। गतिज शक्ति 'माया' है और स्थितिज शक्ति 'ब्रह्म' है।[3] शक्ति की दृष्टि से ब्रह्म ओर माया में अभेद सम्बन्ध है। निष्क्रिय ब्रह्म और सक्रिय माया वास्तव में एक ही है। श्री रामकृष्ण ने ईश्वर की उपासना मातृशक्ति के रूप में की है जो सत्-चित्-आनन्द रूप ब्रह्म हैं वही आनन्दमयी, जगत्-जननी शक्ति हैं। श्री रामकृष्ण देव परमतत्त्व एवं उसकी शक्ति में अभेद सम्बन्ध पर बल देते हुए कहते हैं कि ''ब्रह्म और शक्ति में अभेद है, एक को मानिये तो दूसरे को मानना ही पड़ता है, जैसे अग्नि और उसकी दााहिका शक्ति होती है। सूर्य को पृथक् कर किरणों की कल्पना नहीं की जा सकती और न सूर्य

[1] शा0 भा0 गीता 14.4

[2] भामती, 2.1.14

[3] श्री रामकृष्ण उपदेश, मलापुर मठ, मद्रास, 1969, पृ0 261

के विषय में किरणों को छोड़कर ही सोचा जा सकता है। दुग्ध और उसकी धवलता में तादात्म्य सम्बन्ध है। अतः ब्रह्म को छोड़कर शक्ति के विषय में विचार नही किया जा सकता और न ही शक्ति को छोडकर ब्रह्म के विषय में विचार हो सकता है।[1] शक्ति के बिना शिव उसी प्रकार सृष्टि रचना करने मे असमर्थ है जिस प्रकार कुम्भकार बिना जल के मृत्तिका मात्र से पात्र का निर्माण करने में।[2]

श्री रामकृष्ण देव कहते हैं कि ब्रह्म और माया में वही सम्बन्ध है जो शान्त समुद्र और क्षुब्ध समुद्रके बीच होता है। जिस प्रकार कोई कुम्हार सूखी मिट्टी द्वारा किसी घड़े का निर्माण नही कर सकता, उसके लिए जल की आवश्यकता होती है ठीक उसी प्रकार शिव (ब्रह्म) शक्ति (माया) के बिना सृष्टि का कार्य नहीं कर सकते।[3]

श्री रामकृष्ण देव माया की उपमा बादलों से और ब्रह्म की उपमा स्वच्छ आकाश से देते हैं। कभी-कभी ब्रह्म की उपमा सूर्य से भी दी जाती है। जिस प्रकार इतना बडा सूर्य पृथ्वी को प्रकाशित किये रहता है किन्तु साधारण बादल के छोटे-छोटे टुकड़ों के आते ही दिखलाई नहीं पडता, उसी प्रकार सर्वव्यापी और प्रकाशस्वरूप सच्चिदानन्द को हम माया के आवरण के कारण नहीं देख पाते।[4]

माया की अवास्तविकता को दर्शाने के लिए श्रीरामकृष्ण देव ने एक 'दीपाधार त्रिपार्श्व' का उदाहरण दिया है जिससे लाल, पीले और नीले रंग की किरणें विकीर्ण होती है। जिस प्रकार प्रिज्म या त्रिपार्श्व से निकलने

[1] रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृ0 122
[2] टीचिंग्स ऑफ रामकृष्ण परमहंस, पृ0 4-5
[3] श्री रामकृष्ण उपदेश, अध्याय-2 पृ0 39
[4] श्री रामकृष्ण उपदेश, स्वामी ब्रह्मानन्द, पृ0 12

वाले सभी रंग असद्भूत हैं, ठीक इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् भी असत् ही है। केवल ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है।[1]

श्री रामकृष्ण कहते हैं कि ईश्वर के अन्दर 'विद्या-माया' और 'अविद्या-माया' दोनों निवास करती है। विद्या मनुष्य को ईश्वर के पास ले जाती है पर अविद्या उसे ईश्वर से बहुत दूर फेंक देती है। 'ज्ञान', 'भक्ति', 'वैराग्य', अनुकम्पा-ये सभी विद्या के अभिन्न रूप हैं, जिनकी सहायता से मनुष्य ईश्वर के समीप पहुँच सकता है।

माया की व्याख्या करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि **आत्म-व्याघात** ही इसका स्वभाव है। माया सत् का आन्तरिक विरोध न होकर उसका साधारण विरोध है। यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म पूर्ण सत् है और माया पूर्ण असत् है। वास्तव में **माया सत् और असत् दोनों का मिश्रण है।** भगिनी निवेदिता से वार्तालाप करते हुए एक दिन स्वामी जी ने उससे कहा "बौद्ध दर्शन मनुष्यों को शिक्षा देता है कि संसार में सब कुछ भ्रम है। इसके विपरीत अद्वैत यह शिक्षा देता है कि भ्रम में भी सत् शामिल है। माया सिद्धान्त मनुष्य जीवन और जगत् के सापेक्षिक अस्तित्व का प्रतिपादन करता है। "जगत् सत् और आभास तथा निश्चय और भ्रम का एक अपरिभाष्य मिश्रण है। स्वामी जी कहते हैं कि माया शब्द का यह तात्पर्य नहीं है कि जगत् 'विशुद्ध भ्रम' या 'विभ्रम' है। 'माया' शब्द का केवल यही अर्थ है कि यह असंगतियों और व्याघातों से परिपूर्ण है। अतः यह सत् नहीं हो सकता।"विवेकानन्द के शब्दों में-"जगत् न सत् है और न असत् ही। तुम इसे सत् नहीं कह सकते क्योंकि वास्तविक रूप में सत् वही हो सकता है जो देश और काल से अतीत हो तथा स्वयंभू हो। इतना होते हुए भी जगत् के भीतर कुछ न कुछ सत् अवश्य पाया जाता

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश अं0 अनु0, पृ0 42

है। अतः हम कह सकते हैं कि इसके भीतर आभासी सत् है।"[1] इससे यह लगता है कि स्वामी जी जगत् के मिथ्यात्व पर उतना बल नहीं देते जितना कि अद्वैत वेदान्त की शास्त्रीय परम्परा देती है। वे व्यवहारिक जगत् की सत्यता पर अधिक बल देते हैं क्योंकि, तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में वे जिस क्रियाशील जीवन की स्थापना का लक्ष्य लेकर चल रहे थे उसमें बार-बार जगत् मिथ्यात्व का प्रतिपादन बाधक बन सकता है। इसके विपरीत ब्रह्म पूर्ण सत् है क्योंकि वहां विरोध व्याघात या असंगति नाममात्र के लिए भी नही है। वहां सभी असंगतियों का शमन हो जाता है।

आचार्य शंकर के अनुसार माया के मूलतः दो कार्य हैं। माया वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को ढँक लेती है। माया के कारण वस्तु के स्वरूप पर आवरण पड़ जाता है। जिस प्रकार रस्सी में दिखाई देने वाला साँप रस्सी के वास्तविक स्वरूप पर आवरण डाल देता है, उसी प्रकार माया सत्य पर आवरण डाल देती है। माया का यह निषेधात्मक कार्य है। माया के इस कार्य को 'आवरण' कहा जाता है। माया का दूसरा कार्य यह है कि वह सत्य के स्थान पर दूसरी वस्तु को उपस्थित करती है। अन्धकार सिर्फ रस्सी के वास्तविक स्वरूप को ही नहीं ढँक लेता है, बल्कि रस्सी के स्थान पर साँप की प्रतीति भी उपस्थित करता है। इसी प्रकार माया भी ब्रह्म के स्वरूप का आवरण कर उस पर असद्भूत जगत् का आरोपण कर देती है। यह माया का 'भावात्मक कार्य' है। माया के इस कार्य को 'विक्षेप' कहा जाता है। माया अपने निषेधात्मक कार्य के बल पर ब्रह्म के स्थान पर नाना रूपात्मक जगत् को प्रस्थापित करती है। डा0

[1] सेलेक्टेड वर्क्स, पृ0 105

राधाकृष्णन के शब्दों में 'सत्य पर पर्दा डालना' और 'असत्य को प्रस्थापित करना' माया के दो कार्य हैं।'[1]

श्री रामकृष्ण देव ने माया की **तीन** शक्तियों का वर्णन किया हैः-

(अ) ईश्वर की कार्यकरणात्मिका शक्ति के रूप में,

(ब) अविद्या रूप में और

(स) विद्या रूप में, जिसे निम्न प्रकार से समझा जा सकता है-

माया ईश्वर की ब्रह्मण्डीय शक्ति (कार्यकरणात्मिका शक्ति) है जिसके द्वारा वह सृष्टि का कार्य करता है। जिस प्रकार अग्नि और उसकी दाहक शक्ति में तादात्म्य सम्बन्ध है, उसी प्रकार ब्रह्म और उसकी शक्ति माया में तादात्म्य सम्बन्ध है। ब्रह्म और माया में वही सम्बन्ध है जो शांत समुद्र और क्षुब्द समुद्र के बीच सम्बन्ध होता है- जिस प्रकार कोई कुम्हार सूखी मिट्टी द्वारा किसी घडे का निर्माण नहीं कर सकता, उसके लिए जल की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार शिव (बुद्धि या ब्रह्म), शक्ति (माया) के बिना सृष्टि का कार्य नहीं कर सकते।[2]

माया का **दूसरा** रूप अविद्या का है, जिसके द्वारा वह जीवों में भ्रांति उत्पन्न करती है। माया का स्वभाव कैसा है? जैसे पानी के ऊपर की काई हटाने पर सभी काई हट जाती है, पर थोड़ी देर बाद ही वह अपने आप फैल जाती है उसी प्रकार जब तक साधु-सत्संग कीजिए, कोई विकार उत्पन्न नहीं होता पर साधु-सत्संग से थोडी देर वंचित रहने के बाद ही विषय-वासना चित्त को ढ़ॅक लेती है।[3] इसी प्रकार श्री रामकृष्ण देव ने माया की उपमा बादलों से और ब्रह्म की उपमा स्वच्छ आकाश से

[1] भारतीय दर्शन हिन्दी अनु० (खण्ड-2), डॉ० राधाकृष्णन, पृ० 57

[2] श्री रामकृष्ण उपदेश, स्वामी ब्रह्मानन्द, पृ० 39

[3] वही, पृ० 10

दी है। कभी–कभी ब्रह्म की उपमा सूर्य से भी दी गई है। जिस प्रकार इतना बड़ा सूर्य पृथ्वी को प्रकाशित किए रहता है, किन्तु साधारण बादल के छोटे–छोटे टुकड़ों के आते ही दिखलाई नही पड़ता, उसी प्रकार सर्वव्यापी और प्रकाशस्वरूप सच्चिदानन्द को हम माया के परदे के कारण नहीं देख पाते।[1]

ब्रह्म, माया और जीव के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए उन्होंने श्रीराम, जानकी और लक्ष्मण का उदाहरण दिया है। जीवात्मा और परमात्मा के बीच माया का परदा है। इस परदे कारण दोनों में परस्पर भेंट नहीं हो सकती। जैसे आगे–आगे श्रीराम बीच में जानकी और पीछे–पीछे लक्ष्मण जा रहे हैं यहाँ श्रीराम परमात्मा और लक्ष्मण जीवात्मा के बीच में जानकी मायारूपी परदा हैं। जब तक जानकी बीच में हैं तब तक लक्ष्मण रामचन्द्र जी को नहीं देख सकते। यदि जानकी थोड़ा हट जाएं तो लक्ष्मण को राम के दर्शन हो जायें। ठीक इसी प्रकार यदि जीवात्मा परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहता है तो उसे माया से निवृत्त होना पड़ेगा।[2]

माया की आगे व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि माँ, बाप, भाई, स्त्री, पुत्र, भांजा, भतीजा इन सबका जो मोह है, वही माया है। **अविद्या रूपी माया छः प्रकार की होती है–** 'काम', 'क्रोध', 'लोभ', 'मोह', 'मद' और 'मत्सर'। अविद्या रूपी माया अहंता ममता अर्थात् 'मैं' और 'मेरा' के द्वारा मनुष्यों को बांधे रखती है। जिस प्रकार जब तक पानी गन्दा रहता है तब तक चन्द्र या सूर्य की परछाई उसमें ठीक प्रकार दिखाई नहीं पड़ती, उसी प्रकार माया अर्थात् 'मैं' और 'मेरा' का भाव

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश, स्वामी ब्रह्मानन्द, पृ0 12
[2] वही, पृ0 11

जब तक दूर न हो जाए, तब तक आत्मा का ठीक-ठीक साक्षात्कार नही हो सकता।[1]

ईश्वर के अन्दर विद्या-माया और अविद्या-माया दोनों निवास करती है। विद्या-माया मनुष्य को ईश्वर के पास ले जाती है, पर अविद्या-माया उसे ईश्वर से बहुत दूर फेंक देती है। ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, अनुकम्पा ये सभी विद्या-माया के विभिन्न रूप हैं जिनकी सहायता से मनुष्य ईश्वर के समीप पहुँच सकता है।[2] माया ही ब्रह्म को प्रकाशित करती है। जिस प्रकार शक्ति के द्वारा ही शक्तिमान को जाना जा सकता है, उसी प्रकार माया के द्वारा ही ब्रह्म को जाना जा सकता है। माया के माध्यम से ही हम परम ज्ञान, परम सौन्दर्य और परमसुख प्राप्त कर सकते हैं माया ही जगत् के द्वैत और सापेक्षिक भाव को उत्पन्न करती है। माया के बिना भोक्ता, भोग्य और भोग की कल्पना नहीं की जा सकती[3] तथा माया के द्वारा ही इस कल्पना की निवृत्ति भी होती है।

माया बुद्धिगम्य नहीं है। तो फिर प्रश्न उठता है कि माया की सम्यक् विवेचना हो कैसे? उत्तर स्पष्ट है कि एकमात्र ब्रह्मत्मैक्य बोध से ही इस माया की तथता जानी जा सकती है। उसके पूर्व की सभी माया-सिद्धान्त विषयक समीक्षाएं वैसी ही होंगी जैसी शाम के झुटपुटे प्रकाश की कमी और अनमयस्कता के चलते हम रस्सी को सांप समझ लें और भयवश, प्रवृत्तिवश, आवश्यकतावश उस रस्सी रूपी साँप को पीटते रहें और पीटते ही चले जाएं। तो क्या माया की विवेचना ही व्यर्थ है? उत्तर में हम कह सकते हैं कि- नहीं। इसकी महत्ता इस तथ्य में निहित है कि माया अपने ही विरोधाभासों का हमें बोध देकर अपनी

[1] वही, पृ0 12
[2] श्री रामकृष्ण उपदेश, अं0 अनु0, पृ0 42
[3] वही, पृ0 42

अपूर्णता को बतलाती है और इस प्रकार हम उस सत्य की ओर उन्मुख हो सकते हैं जिसका संकेत उन विरोधाभासों की तार्किक परिणति है। यह आत्मबोध ही विद्यारूपिणी माया का कार्य है।

बिल्ली अपने दाँतो के बीच अपने बच्चे को पकड़ती है पर बच्चे को कोई चोट नहीं पहुँचती, किन्तु वही बिल्ली जब चूहे को पकडती है, तो वह मर जाता है। ठीक इसी प्रकार माया भक्तों को कभी नही मारती, किन्तु जो भक्त नहीं हैं, उन्हें वह मार डालती है। इसी विद्या–माया और अविद्या–माया के विषय में गोस्वामी तुलसीदास जी ने बहुत कुछ इसी प्रकार कहा है।[1]

जहां तक बन्धन का कारण और उसे दूर करने का प्रश्न है तो, इसके विषय में उपनिषदों का कहना है कि बन्धन का मूल कारण यह है कि आत्मा को अपने स्वरूप के विषय में, कि वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है, अज्ञान है।

यदि बन्धन का कारण अज्ञान है तो यह बन्धन केवल तब दूर हो सकता है जबकि यह अज्ञान दूर हो जाए। इसके विषय में आचार्य शंकर कहते हैं कि बन्धन का मूल कारण जीव का स्वयं के स्वरूप के विषय में अज्ञान है। जीव स्वयं ब्रह्म है, परन्तु अनादि अविद्या (माया) के कारण वह इस तथ्य को भूल जाता है और स्वयं को मन, शरीर, इन्द्रियां इत्यादि समझने लगता है। यही उसका अज्ञान है और इसी कारण वह स्वयं को बन्धन में पड़ा समझता है। यह बन्धन भी केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है। पारमार्थिक सत्य तो यह है कि जीव न कभी बन्धन में

[1] तेहिकर भेद सुनहु तुम सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ।।
एक दुष्ट अतिशय दुःख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा।।
एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहीं निज बल ताके।।–अरण्यकाण्ड

पड़ता है और न कभी मोक्ष को प्राप्त करता है। श्री रामकृष्ण–विवेकानन्द के भी विचार आचार्य शंकर की ही भांति है।

माया के बन्ध और मोक्ष से सम्बन्ध के विषय में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि मानव बन्धन का कारण 'निज–स्वरूप' का अज्ञान है। बन्धन अज्ञान में ही निहित है। पुरूष या जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान रहता है, यही उसका बन्धन है। मोक्ष केवल इस अज्ञान से दूर होने और अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में निहित है। **दूसरे**, पुरूष या जीव 'नित्य–मुक्त' है परन्तु, उसे वह ज्ञान तब प्राप्त होता है जब उसका अज्ञान दूर हो जाता है। चूंकि बन्धन का कारण केवल हमारा अज्ञान है और अज्ञान का निवास हमारे मन में है, कहीं बाह्य जगत् में नहीं। अतः बन्धन की भी सत्ता केवल हमारे मन में ही है, कहीं बाह्य जगत् में नहीं । अतः बन्धन को दूर करने और मोक्ष को प्राप्त करने में होने वाला परिवर्तन केवल ज्ञानगत है।

निष्कर्ष –

श्री रामकृष्ण विवेकानन्द के माया संबंधी उपरोक्त विचारों की व्याख्या करने पर निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि श्री रामकृष्ण देव सामान्य जीवन के उदाहरणों द्वारा अपनी बात कहते थे अतः वे माया को भी विभिन्न उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किए हैं। स्थिर और क्षुब्द समुद्र, सर्प और उसकी कुण्डली, अग्नि और उसकी दाहकता तथा आकाश और मेघ के उदाहरणों के द्वारा उन्होंने ब्रह्म–माया के बीच आधाराधेय भाव, तादात्म्य तथा शक्ति, शक्तिमान आदि सम्बन्धों का निर्देशन किया है। श्री रामकृष्ण की माया–सम्बन्धी धारणा उपनिषदों के अनुकूल ही है। किन्तु ईश्वर के मातृस्वरूप के उपासक होने के कारण उन्होंने माया को शक्तिरूपिणी कहकर उसके प्रति पर्याप्त आदर भी प्रदर्शित किया है। वे माया की

परिभाषा ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति के रूप में देते हैं। यह श्री रामकृष्ण द्वारा एक विशिष्ट शैली में औपनिषदिक ब्रह्मवाद की ही अभिव्यक्ति है। ब्रह्म की शक्ति के रूप में माया की कल्पना परम्परागत औपनिषदिक दर्शन में भी प्राप्त होता है। माया का यही शास्त्रीय रूप है।

विवेकानन्द की माया सम्बन्धी अवधारणा भी इसी पृष्ठभूमि में विकसित हुयी। चूँकि विवेकानन्द जी वस्तुतः समाज सुधारक थे। अतः उन्होंने वेदान्त के शास्त्रीय सिद्धान्तों की व्याख्या भी जन-सामान्य की शैली में ही किया। इसीलिए उन्होंने माया और माया-प्रसूत जगत् के मिथ्यात्व पर बहुत बल न देकर माया और जगत् में व्याप्त अन्तर्विरोधों और असंगतियों को उजागर किया। वे चाहते थे कि व्यक्ति इन विसंगतियों को भी जीवन की वास्तविकता माने और सदैव इनको दूर करने का प्रयास करते हुए खुद को शुभ संकल्पों के लिए प्रस्तुत करे। वह संसार की मायावी विसंगतियों से भयभीत होकर कर्म-पथ से भटके नहीं।

7

अद्वैत वेदान्तिक जीव की अवधारणा -

1. शंकराचार्य के अनुसार जीव
   (i) जीव शब्द का व्युत्पत्ति एवं अर्थ,
   (ii) जीव-ब्रह्म सम्बन्ध
2. श्री रामकृष्ण के अनुसार जीव का स्वरूप
3. विवेकानन्द के अनुसार जीव का स्वरूप
4. श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द के अनुसार जीव-ब्रह्म सम्बन्ध
5. श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द के जीव सम्बन्धी विचारों की समीक्षा

अद्वैत वेदान्तिक जीव की अवधारणा

(1) शंकराचार्य के अनुसार जीव –

जीव और ब्रह्म में क्या सम्बन्ध है? दोनों एक हैं अथवा दो? मुख्यतः इसी प्रश्न के विविध उत्तरों पर वेदान्त के विविध सम्प्रदायों का विकास हुआ था। प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता आचार्यों ने इसकी भिन्न–भिन्न तरह से व्याख्या की। जहाँ तक अद्वैत वेदान्त का मत है– 'संसार में जो द्वैत या नानात्व है वह मायाजन्य है।' जीव और ब्रह्म एक हैं। इनमें कोई द्वैत नहीं है। परमार्थतः अद्वैत ही एकमात्र सत्य है। आचार्य शंकर का मंतव्य है कि– **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।'** अर्थात् ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, जगत् मिथ्या है तथा जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं।

1 (1) जीव शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ –

जीव शब्द की व्युत्पत्ति **'जीव्'** धातु से मानी गई है जिसका अर्थ है– **'प्राण धारण'**। अतएव् जीवात्मा में उन सभी साधनों की अपेक्षा है, जिनके द्वारा उसमें क्रिया और ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जीव के इन साधनों में शरीर, मन, बुद्धि, प्राण एवं दशेन्द्रियों की स्थिति है।

तैत्तिरीय–उपनिषद् में आत्मा के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय इन पंचकोशों का वर्णन है। इससे यह प्रमाणित होता है कि उपनिषदों में 'जीवात्मा' इन्हीं पंचकोशों से अविच्छिन्न 'आत्मा' को कहते हैं। 'बुद्धि', 'इन्द्रिय', 'शरीर' आदि उपाधियों से युक्त शुद्ध आत्म–तत्व ही 'जीव' कहलाता है। हमारी व्यक्तिनिष्ठ जीवात्मा शुद्ध आत्म–तत्त्व है। यह सत् और असत् का मिथुनीकरण है, चेतन और जड

की ग्रंथि है।

आत्मा की पारमार्थिक सत्ता है जब कि जीव की व्यावहारिक। **जब आत्मा अविद्या के वशीभूत होकर इन्द्रिय, शरीर, मन इत्यादि उपाधियों से सीमित हो जाता है तब वह 'जीव' कहलाता है।** ''भगवान की माया से उत्पन्न तीनों गुण (प्रकृति) शरीरधारी अविनाशी क्षेत्रज्ञ को मानों बाँध लेते हैं। जब यह आत्मा शरीर में उपस्थित होकर सांसारिक अनुभूतियों का विषय बनती हैं तो यह 'जीवात्मा' कहलाती है। 'वह परात्मा मिथ्या बुद्धि से परिच्छिन्न होकर उससे एकीभूत हो जाने के दोष से सर्वात्मक होते हुए भी मिट्टी के घड़े के समान अपने को अपने ही से पृथक् देखता है।

यह जीवात्मा ही सारे सांसारिक अनुभवों को अनुभूति चेतना के रूप में ग्रहण करता है। परन्तु यह आत्मा का केवल शरीर स्थित रूप है। शुद्ध चित्त रूप ब्रह्म माया के साथ इस प्रपंच के मध्य ईश्वर के रूप मे स्थित होता है और यही अविद्या के साथ जीवरूप में शरीर में स्थित होता है। माया अज्ञान का शुद्ध सृष्टिकर्ता रूप है और अविद्या विकृत अनुभूतिपरक जीवरूप है।

जीव कर्म-नियम के अधीन रहते हुए स्वयं को विभिन्न कार्यों का कर्ता और भोक्ता समझता है। परिणामस्वरूप कर्मों की सफलता और असफलता के अनुसार सुख और दुःख की अनुभूति करता है। उपनिषदों में जीव के लिए कर्ता और भोक्ता शब्द का प्रयोग हुआ है। एक ही आत्मा विभिन्न जीवों के रूप में दिखलाई पड़ती है। जिस प्रकार एक ही आकाश, उपाधिभेद के कारण घटाकाश, मठाकाश इत्यादि में दीख पड़ता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा शरीर और मनस की उपाधि के कारण अनेक दीख पड़ता है। जिस प्रकार मूढ़ पुरुष घड़े के जल में प्रतिबिम्बित सूर्य

बिम्ब को देखकर उसे सूर्य ही समझता है, उसी प्रकार उपाधि में स्थित चिदाभास को अज्ञानी पुरुष भ्रम से अपना– 'आप' ही मान बैठता है। यद्यपि जीव वास्तविक स्वरूप में स्वयं आत्मा या ब्रह्म है तथापि अज्ञानता के वशीभूत वह स्वयं को पृथक् समझते हुए ब्रह्म (ईश्वर) को उपास्य और स्वयं को उपासक समझने लगता है।

जीव आत्मा का वह रूप है जो देह से युक्त है। उसके तीन शरीर हैं– 'स्थूल', 'लिंग', 'कारण शरीर'। इसकी अभिव्यक्ति की अवस्था सुषुप्ति है जिसमें बुद्धि की सम्पूर्ण वृत्तियाँ लीन हो जाती है। अविद्या से आवृत्त जीव पारमार्थिक (सत्) संज्ञा से जाना जाता है, जब यही जीव अह्म और इन्द्रियों के सम्पर्क से अनेक व्यापारों में प्रवृत्त होता है तो व्यावहारिक (प्रकृत) और स्वप्नावस्था में स्वप्नात्मा रूप में प्रातिभासिक (माया) कहलाता है।

जीव तब **'तत्त्वमसि'** आदि वाक्य–ज्ञान से अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है जब उसकी अविद्या–निवृत्ति हो जाती है। तब उसे **'अहं ब्रह्मास्मि'** का साक्षात्कार हो जाता है। लोक में अविद्या और उसके कार्य जीव–भाव का अनादित्व माना जाता है, किन्तु, जग पड़ने पर जैसे सम्पूर्ण स्वप्नप्रपंच अपने मूल सहित नष्ट हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानोदय होने पर अविद्या–जनित जीव–भाव का नाश हो जाता है। अनादि माया के प्रभाव से सोया हुआ जीव जब जागता है तब यह अजन्मा, निद्रारहित, स्वप्नरहित अद्वैत तत्व का ज्ञान प्राप्त करता है।

वस्तुतः सभी जीव अपने तात्विक स्वरूप में एक ही शुद्ध चेतन तत्व हैं, तथापि अविद्या–जन्य उपाधियों से सीमित होने के कारण जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है और ब्रह्म से अपना पार्थक्य समझने लगता है। **संसार में जो द्वैत या नानात्व है वह मायाजन्य है,**

परमार्थतः केवल अद्वैत ही एक मात्र तत्व है। वस्तुतः जीव न 'आत्मा का अंश' है न आत्मा का विकार है, न आत्मा से भिन्न है बल्कि स्वतः आत्मा है। सच तो यह है कि जीव और ब्रह्म में परमार्थतः कोई भेद नहीं है। शंकर का कथन 'तत्वमसि' आत्मा और जीव की अभिन्नता प्रमाणित करता है।

1 (11) **जीव–ब्रह्म सम्बन्ध –**

जीव और ब्रह्म के सम्बन्धों की व्याख्या के लिए अद्वैत वेदान्त में प्रायः दो मत स्वीकार किये गये हैं– 1. **प्रतिबिम्बवाद**, 2. **अवच्छेदवाद।**

आचार्य शंकर ने इस प्रकार का कोई संकेत नहीं दिया कि वे दोनों सिद्धान्तों में से किसका समर्थन करते हैं, किन्तु उन्होंने इन दोनों का प्रयोग किया है। जब वे ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं तो वे जल में सूर्य–प्रतिबिम्ब का उदाहरण देते हैं। यहाँ वे प्रतिबिम्बवाद के समर्थक प्रतीत होते हैं। किन्तु, जब वे उसी तथ्य की व्याख्या सर्वव्यापी आकाश का घड़े आदि में परिसीमित होने का दृष्टांत देते हैं तो वे अवच्छेदवाद के समर्थक लगने लगते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आचार्य शंकर इन दोनों का अन्तर नहीं समझते। वस्तुतः इन दोनों दृष्टांतों की अपनी विशेषतायें हैं जिनसे भिन्न–भिन्न तथ्य स्पष्ट होते हैं। यथा– 'वृहदाकाश' और 'घटाकाश' के दृष्टांत से जीव और ब्रह्म की तात्विक एकता भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है और जल में सूर्य के प्रतिबिम्ब के दृष्टांत से जीव की सांसारिक प्रकृति उसकी मुक्ति तथा ऐसे ही अन्य इन्द्रियानुभविक तथ्य अच्छी तरह से समझाये जा सकते हैं। अतः आचार्य शंकर एक निश्चित अभिप्राय के साथ दोनों प्रकार के दृष्टातों का प्रयोग करते हैं। उन्होंने अनिश्चित मानसिक दशा के कारण ऐसा नहीं किया है। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने दोनों प्रकार के दृष्टान्तों का प्रयोग

विविध तथ्यों को समझाने के लिए किया है।

(2) श्री रामकृष्ण के अनुसार जीव का स्वरूप –

जीव को ईश्वर के साथ युक्त होना चाहिए अथवा नहीं, इसी प्रसंग पर श्री रामकृष्ण देव निम्न दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि संख्या 'एक' के बाद शून्य लगाते हुए चाहें जितनी बड़ी संख्या पाई जा सकती है; पर यदि उस एक को मिटा दिया जाय तो शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता। उसी प्रकार, जब तक जीव उस एक ईश्वर के साथ युक्त नहीं होता तब तक उसकी कोई कीमत नहीं होती; कारण, जगत् में सभी वस्तुओं को ईश्वर से सम्बन्धित होने पर ही मूल्य प्राप्त होता है। जब तक जीव जगत् के पीछे अवस्थित उस मूल्य प्रदान करने वाले ईश्वर के साथ संयुक्त रहकर उन्हीं के लिए कार्य करता है तब तक उसे अधिकाधिक श्रेय प्राप्त होता रहता है; लेकिन इसके विपरीत जब वह ईश्वर की उपेक्षा करते हुए अपने स्वयं के गौरव के लिए बड़े–बड़े कार्य सिद्ध करने में भिड जाता है, तब उसे कोई लाभ नही मिलता।[1] जीव के अस्तित्व की कल्पना वैसी ही है जैसे कोई गंगा का कुछ भाग घेर ले और कहे कि यह हमारी निजी गंगा है।[2]

ब्रह्म–शक्ति अर्थात् चैतन्य की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए श्री रामकृष्ण देव पुनः कहते हैं कि 'मनुष्य की देह मानों एक हांड़ी है और मन, बुद्धि, इन्द्रियां मानो पानी, चावल और आलू। हाँड़ी में पानी, चावल और आलू छोड़कर उसे आग पर रख देने से वे तत्व हो जाते हैं और कोई अगर उन्हें हाथ लगाए तो उसका हाथ जल जाता है। वास्तव में जलाने की शक्ति हांड़ी, पानी, चावल या आलू में से किसी में नहीं है,

[1] अमृतवाणी, पृ० 71
[2] वही, पृ० 8

वह तो उस आग में है; फिर भी उनसे हाथ जलता है। इसी प्रकार मनुष्य के भीतर विद्यमान रहने वाली ब्रह्म-शक्ति के कारण ही मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ कार्य करती हैं और जैसे ही इस ब्रह्म-शक्ति अर्थात् चैतन्य का अभाव हो जाता है वैसे ही ये मन, बुद्धि, इन्द्रियां निष्क्रिय हो जाती हैं।[1]

(3) — विवेकानन्द के अनुसार जीव का स्वरूप -

जीव विवेचन के सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द जी का मत अद्वैत वेदान्त से मिलता जुलता है। **वे विषय और विषयी अथवा माया और ब्रह्म की ग्रंथि को ही जीव मानते हैं।**[2] वस्तुतः जब तक नाम-रूप हैं, जब तक स्वरूप-विस्मरण है तभी तक जीव-जगत् की कल्पना है। "जब स्वरूपावबोध होकर नामरूप का लोप हो जाएगा तब जीवादि की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं होगा।"[3] वस्तुतः यह जो जीव-बहुत्व प्रतीत हो रहा है वह मुक्ति सिद्ध नहीं है। इस विषय को स्वामी जी ने तर्क-प्रणाली द्वारा प्रतिपादित किया है। आत्मा का स्वरूप अन्य दर्शनों ने चाहें कुछ भी माना हो, परन्तु यह सभी स्वीकार करते हैं कि वह देश-काल से परे है, अतः निराकार है। देश-काल आदि मन के अन्तर्गत है। जो वस्तु देश-काल से परे है वह निराकार होगी, यह निश्चित है। इसी प्रकार देश-काल जिसका स्पर्श नहीं कर सकते उसकी सर्वव्यापकता एवं अनन्तता असन्दिग्ध है। केवल एक ही पदार्थ अनन्त एवं सर्वव्यापक हो सकता है। अनन्त कभी दो नहीं हो सकते।[4] जो अनन्त है, जो सर्वव्यापक है उसका जन्म-मरण भी संभव नहीं, क्योंकि जिस प्रकार 'पृथ्वी क्यों नहीं गिरती'? यह प्रश्न स्वतः प्रत्याख्यात है उसी प्रकार यह प्रश्न भी कि जो अनन्त है

[1] वही, पृ० 8-9

[2] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, (खण्ड-3), पृ० 362

[3] विवेकानन्द जी के संग में, पृ० 308

[4] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द (खण्ड-1), पृ० 330

वह कहाँ जाएगा और कहाँ से आएगा? इस प्रकार न तो जीव–बुहत्व सिद्ध किया जा सकता है, और न ही जीव का संसरण सिद्ध किया जा सकता है।[1]

स्वामी जी ने सृष्टि मिथ्यात्व और जीव मिथ्यात्व पर बल नहीं दिया हैं। यद्यपि वे शुद्ध अद्वैत–वेदान्तिक धारा के समर्थक हैं। फिर भी उनके जीव–विवेचन को हम दो पक्षों में देखेंगे। वे पक्ष हैं– 'भौतिक' और 'चेतन'। भौतिक के अन्तर्गत हम मानव के भौतिक पक्ष का विवेचन करेंगे और चेतन के अन्तर्गत मानव के आध्यात्मिक स्वरूप का। स्वामी विवेकानन्द मानव को भौतिक और अभौतिक या आध्यात्मिक दोनों मानते हैं। भौतिक तत्व पंचभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) से निर्मित है। यह भौतिक तत्व जड़ है, अर्थात् इसमें चेतना नहीं है। इस प्रकार भौतिक शरीर जड़ात्मक है, क्योंकि पृथ्वी, जल, तेज आदि जड़ तत्वों से निर्मित हैं। इन पंचभूतों के संघात को ही 'शरीर' कहते हैं। शरीर एक पिण्ड है जो सभी भौतिक तत्वों का पिण्डीकृत रूप है। इस भौतिक शरीर में इन्द्रियाँ हैं। पांच प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों और पांच प्रकार की कर्मेन्द्रियों का अधिष्ठान शरीर ही है। यही मानव व्यक्तित्व का बाह्य रूप है, जिसे 'देह' की संज्ञा दी जाती है। इसके साथ ही मानव का एक और स्वरूप भी है, जिसे 'जैविक स्वरूप' कहते हैं।

अपने भौतिक स्वरूप में मानव अन्य जीवों के प्रायः समान है क्योंकि, सभी सजीव; शरीरधारी होते हैं। पशु को भी मनुष्य के समान ही शरीर होता है। उसकी शारीरिक क्रियाएँ भी प्रायः मनुष्यों के समान ही होती है। आहार, निद्रा, मैथुन आदि शारीरिक क्रियाओं में मनुष्य और पशु में बहुत अन्तर नहीं है परन्तु, अन्य जीवों से मानव का भेद मस्तिष्क को

[1] वही, (खण्ड–2) पृ0 78–81

लेकर है। मानव 'मन' के कारण मनन और चिन्तन करता है, बुद्धि के कारण विमर्श या विचार करता है, अहंकार के कारण कर्ता, भोक्ता आदि का अनुभव करता है। मन, बुद्धि अहंकार आदि मानव के सूक्ष्म व्यक्तित्व के अंग हैं। इस प्रकार मानव अपने भौतिक शरीर या स्थूल रूप से अन्य जीवों के समान है परन्तु, सूक्ष्म व्यक्तित्व (मन, बुद्धि, अहंकार आदि) के कारण अन्य जीवों से श्रेष्ठ है। मानव मस्तिष्क की सबसे बड़ी विशेषता उसकी 'विचार–शक्ति' है। इस शक्ति के कारण ही मानव, पशु आदि जीवों से श्रेष्ठ है, क्योंकि, विचार करने की शक्ति अन्य जीवों में नहीं है। इस विचार–शक्ति से ही मानव और पशु आदि अन्य जीवों के व्यवहार में भेद होता है। पशुओं का व्यवहार प्रवृत्ति के अनुकूल होता है तथा उनका कार्य यन्त्रवत् होता है। उदर–पूर्ति ही उनके कार्यों की मूल प्रवृत्ति है। भूख लगने पर बेचैनी का अनुभव करना और क्षुधा की शान्ति से प्रसन्नता का अनुभव करना यन्त्रवत् व्यवहार है। ये मूल प्रवृत्तियां तो मानव में भी है। परन्तु मानव का व्यवहार विवेक या विचार से नियन्त्रित होता है। इस विवेक या विचार के कारण मानव विकल्पों में से किसी एक का चयन करता है। इसके लिए संकल्प करता है। विकल्पात्मक परिस्थितियां में किसी एक के लिए संकल्प करने में उसे लाभ–हानि, उचित–अनुचित, श्रेय–प्रेय आदि सभी पक्षों पर विचार करना पड़ता है। विचार कर वह संकल्प करता है तथा संकल्प के अनुसार आचरण करता है। अतः मानव का आचरण संकल्पजन्य है और संकल्प की स्वतंत्रता विचार–शक्ति का परिणाम है। इस प्रकार संकल्प शक्ति और स्वतंत्र विचार मानव की विशेषता है जो अन्य जीवों में नही पाई जाती । इसके कारण ही मानव अन्य जीवों से श्रेष्ठ है। जहां तक शारीरिक बल का प्रश्न है किसी सीमा तक पशु में यह बल अधिक है परन्तु पशु में विवेक बल नहीं होता। यही मानव की विशेषता है।

मानव का आध्यात्मिक स्वरूप अभौतिक आत्मरूप है। यही मानव का तात्विक रूप है अर्थात् तत्व की दृष्टि से मानव आत्मा या परमात्मा है। परन्तु इस आत्मा या परमात्मा का निवास मानव शरीर में ही है। अतः शरीर की दृष्टि से मानव व्यक्तित्व देह और देव का सुन्दर समन्वय है। आपाततः मानव देह है, परन्तु तत्त्वतः देव है। उसका देवरूप साधारण दृष्टि से दिखलाई नहीं पड़ता। यह आध्यात्मिक रूप असाधारण दृष्टि से ही पता चलता है। देवरूप को जानने के लिए दिव्य दृष्टि की आवश्यकता है। परन्तु देवरूप देह में ही स्थित है, आत्मा का अधिष्ठान शरीर ही है। इस प्रकार मानव किसी रूप में भौतिक शरीर है तो किसी रूप में अभौतिक या आध्यात्मिक आत्मा या परमात्मा है।

अद्वैत वेदान्ती होने के कारण स्वामी जी आत्मा को ही परम तत्व मानते हैं। आत्मा अजर, अमर, अमृत और अभय है। यह मन, बुद्धि, अहंकार आदि से भी भिन्न है। यह सर्वथा असांसारिक, अजन्मा, सर्वव्यापक, शाश्वत तत्व है। यह नित्य, निरवयव और निर्विकारी तत्व है। इसका स्वरूप शुद्ध चैतन्य है। जीव भी चित्तस्वरूप होने के कारण परमात्मा से अभिन्न है। स्वामी विवेकानन्द आत्मा को ही **'आत्म-शक्ति'** कहते हैं जो सभी प्रकार की भौतिक और मानसिक शक्तियों से भिन्न है। इसे वाणी व्यक्त नही कर सकती, परन्तु यह वाणी को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। जिसकी कल्पना करने में मन असमर्थ है, परन्तु जो मन को कल्पना करने की शक्ति प्रदान करता है। जिसे देखने में नेत्र असमर्थ हैं, परन्तु. जो नेत्रों को देखने की शक्ति प्रदान करता है। जिसे सुन नहीं सकते, परन्तु जो सुनने की शक्ति प्रदान करता है।[1] स्पष्ट है कि आत्मा स्थूल शरीर और सूक्ष्म इन्द्रियों से भिन्न है। आत्मा शुद्ध, शान्त, शाश्वत

[1] तुलनीय, "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति।।" -मुण्डकोपनिषद्।

और स्वतंत्र तत्व है। यह शरीर का स्वामी और इन्द्रियों का अधिष्ठाता है परन्तु, शरीर और इन्द्रियों से यह पूर्णतः अप्रभावित है।

स्वामी विवेकानन्द भगवद्गीता (2-23, 24) का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि कोई शस्त्र (तलवार आदि) इसे काट नही सकता, क्योंकि यह अवयव रहित है। आग इसे जला नही सकता, जल इसे भिगो नहीं सकता, वायु इसका शोषण नहीं कर सकता, आत्मा 'अवच्छेद्य' (न कटने वाला), 'अदाह्य' (न जलने वाला), 'अक्लेद्य' (न गलने वाला). और 'अशोष्य' (न सूखने वाला) है। यह नित्य है क्योंकि, पंचभूत इसका नाश नही कर सकते। नित्य होने से यह सर्वगत या सर्वव्यापी है और सर्वव्यापी होने से स्थाणु (ठूंठ के समान स्थिर) है, स्थाणु होने से यह अचल है और इसीलिए सनातन है। इसका कभी जन्म नहीं होता है तथा यह मरता भी नहीं है। जन्म और मृत्यु से परे होने के कारण ही यह नित्य है क्योंकि, अनित्य का ही जन्म-मरण होता है। यह सदा रहने वाला है, अतः शाश्वत है (2-20)। पुनः स्वामी जी भगवद्गीता की भाषा (2-25) में कहते हैं कि 'आत्मा अव्यक्त है क्योंकि, इसका ज्ञान बुद्धि आदि कारणों से नहीं हो सकता। आत्मा अतीन्द्रिय है क्योंकि, यह इन्द्रियगोचर नहीं। आत्मा अविकारी है क्योंकि, सभी विकारों से परे है।'[1]

यद्यपि आचार्य शंकर पारमार्थिक दृष्टि से जीवों की अनेकता स्वीकार नहीं करते किन्तु वह एक भिन्न बात है। उस दृष्टि से जीवों की संख्या का प्रश्न ही नहीं रह जाता है क्योंकि तब जीवत्व-भाव ही नहीं रहता है। जीव का अस्तित्व इन्द्रियानुभव में आने वाला तथ्य है। आचार्य शंकर ने जीवों की अनेकता भी व्यावाहारिक अस्तित्व के अन्तर्गत ही मानी है। व्यावहारिक दृष्टि से अन्य सब प्रकार की अनेकताओं की भांति जीवों की

[1] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, (खण्ड-1), पृ0 141

अनेकता भी एक व्यावहारिक तथ्य है। यद्यपि वे व्यावहारिक दृष्टि से घटाकाश, मठाकाश के दृष्यान्त से जीव-भेद के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं। इसके पश्चात् आचार्य शंकर के सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे अनेक **'जीववाद'** में विश्वास रखते हैं। उन्होंने बार-बार केवल जीवों की अनेकता और भेद का ही प्रतिपादन नहीं किया है वरन् यह भी तर्क उपस्थित किया है कि यदि जीव अनेक न हों तो अपने कर्मों के फलभोग की इच्छा रखने वाले जीवों ओर मुक्तिपरायण जीवों में भेद करना सम्भव नहीं होगा। एक ही समय में एक आदमी मुक्ति की कामना करने वाला और अपने कर्मफलों के भोग की इच्छा रखने वाला नहीं हो सकता है।[1] इसके अतिरिक्त आचार्य शंकर के मत में जीवों की व्यावहारिक अनेकता इससे भी सिद्ध होती है कि वे मनः शारीरिक अवयव संस्थान को जीव की उपाधि मानते हैं। इस संस्थान में शरीर, इन्द्रियां और मन सम्मिलित हैं। उपाधियों की अनेकता एक स्पष्ट तथ्य है। इन्हीं उपाधियों के कारण जीव भी अनेक हैं।

(4) श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द के अनुसार जीव-ब्रह्म सम्बन्ध –

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जीव का ब्रह्म से नितान्त अभेद सम्बन्ध है। भावात्मक रूप से इस सम्बन्ध को तादात्म्य सम्बन्ध कह सकते हैं परन्तु, यह शब्द जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध की उचित अभिव्यक्ति नही करता। तादात्म्य शब्द में यह भाव निहित है कि दो वस्तुएँ है, जो कि एक रूप हैं। परन्तु जीव और ब्रह्म दो नहीं बल्कि एक ही हैं। रामकृष्ण-विवेकानन्द के दर्शन में "दो" के लिए स्थान नहीं है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, उनका दर्शन अद्वैत अर्थात् "दो-नहीं" (अत्रनहीं, द्वैतत्रदो) का दर्शन है। अतः जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध

[1] शां0भा0गीता, 4.2 (न हि एकस्य मुमुक्षत्वं फलार्थित्वं च युगपत संभवति)

भावात्मक शब्दावली में नहीं बल्कि निषेधात्मक शब्दावली में अधिक सही ढंग से व्यक्त किया जा सकता है। इसी कारण रामकृष्ण–विवेकानन्द इनके सम्बन्ध में ''अभेद'' (भेद नहीं), ''अद्वैत'' (दो नहीं) इत्यादि शब्द प्रयुक्त करते हैं। परन्तु निषेधात्मक शब्दावली का प्रयोग करते समय भी हमें सावधान रहना चाहिए। इस शब्दावली का प्रयोग भी हम केवल इसलिए करते हैं कि भाषा में जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध बतलाने के लिए इससे अधिक संगत अभिव्यक्ति उपलब्ध नहीं है। सत्य तो यह है कि जीव और ब्रह्म के बीच सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि, जब वे ''दो'' या अलग–अलग हैं हीं नहीं तो उनके बीच सम्बन्ध कैसा ? उनके ''दो'' ओर ''भिन्न'' होने की तो केवल प्रतीति ही होती है। अतः उनके बीच सम्बन्ध का प्रश्न केवल प्रतीति के ही क्षेत्र में है, अर्थात् दोनों के बीच सम्बन्ध का कथन केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही किया जा सकता है। उन दोनों के बीच ठीक वही सम्बन्ध है जो घटाकाश और मठाकाश के बीच है। घड़े के भीतर का आकाश और घड़े के बाहर का आकाश एक ही है परन्तु, घड़े की उपाधि के कारण वे भिन्न प्रतीत होते हैं। ठीक इसी प्रकार जीव और ब्रह्म एक ही हैं, परन्तु शरीर, मन तथा ज्ञानेन्द्रियों की उपाधियों के कारण वे भिन्न प्रतीत होते हैं।

श्री रामकृष्ण देव प्रकृति भेद से जीव को कई प्रकार को बतलाते हैं उनके अनुसार जीव तीन प्रकार के होते हैं– **'बद्ध जीव', 'मुमुक्षु जीव'** और **'मुक्त जीव'**। कुछ मछलियाँ ऐसी होती हैं जो जाल में पड़ने पर भी भागने की बिल्कुल चेष्टा ही नही करतीं और चुपचाप पडी रहती हैं, कुछ दूसरी होती हैं जो इधर–उधर छटपटाती हैं और भाग नहीं पातीं। पुनः एक तीसरे प्रकार की भी मछलियाँ होती हैं जो जाल को काट कर भाग जाती हैं। प्रथम प्रकार के जीव 'बद्ध–जीव', दूसरे प्रकार के जीव 'मुमुक्ष जीव'

और तीसरे प्रकार के जीव 'मुक्त जीव' कहलाएँगे।[1] साधारण तौर पर दो प्रकार के मनुष्य पाए जाते हैंः **ईश्वरानुरागी** और **सांसारिक**। मक्खियाँ दो प्रकार की होती हैं एक तो शहद की मक्खियाँ जो शहद के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं खातीं और दूसरी साधारण मक्खियाँ जो शहद पर भी बैठती हैं और यदि सड़ा हुआ घाव दिखाई दे तो तुरन्त शहद को छोड़कर उस पर भी जा बैठती हैं। इसी प्रकार संसार में दो प्रकार के स्वभाव वाले व्यक्ति होते हैं : एक जो ईश्वर में अनुराग रखते हैं और दूसरे जो संसार में आसक्त जीव हैं। विषय उपस्थित होने पर वे भगवान् को छोड़कर उसी में आसक्त हो जाते हैं।[2]

यदि जीव का तात्विक रूप आत्मा है और आत्मा परमात्मा में अभेद है तो संसार में अनेक जीव क्यों दिखलाई पड़ते हैं? स्वामी विवेकानन्द का उत्तर यह है कि अनेकता असत्य है और एकता ही सत्य है। एक सच्चे अद्वैतवादी की भांति उनका विश्वास है कि अन्ततोगत्वा सब जीव ब्रह्म ही हैं। जब हम मानव के बाह्य व्यक्तित्व को देखते हैं तो मानव अनेक रूप में दिखलाई पड़ते हैं। सभी के शरीर भिन्न हैं, मानसिक क्षमताएं भिन्न-भिन्न हैं, अतः सभी भिन्न हैं, अनेक हैं। परन्तु हम मानव के आन्तरिक व्यक्तित्व (आत्मरूप) को देखते हैं तो सभी का व्यक्तित्व विराट, विभु रूप दिखलाई देता है। इस प्रकार जब तक हम मानव को जड़ शरीर मानते हैं, मानव अनेक है। जब हम मानव को चैतन्य रूप मान लेते हैं तो सभी चेतन एक हैं। इसे स्वामी विवेकानन्द सागर और लहर की उपमा से स्पष्ट करते हैं। लहरें सागर में उठती हैं, एक के बाद एक दिखलाई देती हैं। लहरों की दृष्टि से अनेकता ही है। इसलिए स्वामी जी कहते हैं कि आत्मा अनन्त और अपरिणामी है। जो

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश (हिन्दी अनु0), पृ0 17-18

[2] वही, पृ0 19-20

भी परिणाम या परिवर्तन संसार में दृष्टिगोचर होता है वह अपरिगामी में परिणामों की प्रतीति मात्र है।[1] तत्वतः न परिणाम है और न परिवर्तन, ये तो मात्र प्रतीति है। जैसे सागर में अगणित लहरों की प्रतीति। जब हम प्रतीति से ऊपर उठकर परमार्थ या तत्व की दृष्टि से विवेचना करते हैं तो हमें शुद्ध, शान्त सागर ही दिखलाई पडता है। इसी प्रकार **एक अद्वैत अनन्त आत्मा जिसे विश्वात्मा या परमात्मा कहते हैं, यही परम तत्व है।** परन्तु इस अद्वैत आत्मा का बोध हमें तत्व की दृष्टि से विचार करने पर होता है। इसके साथ ही प्रमाण सम्बन्धी एक और प्रश्न जुड़ा है। मानव देह नहीं है, देव है, इसमें प्रमाण क्या है? इसके लिए आगम या शास्त्रीय प्रमाणों की कमी नहीं, परन्तु स्वामी विवेकानन्द इसके लिए एक व्यावहारिक और धार्मिक प्रमाण बतलाते हैं। प्रायः धर्म में किसी सर्वातीत तत्व की भावना व्याप्त रहती है। हमारे सभी आदर्श और आचरण किसी 'परम्' की ओर उन्मुख हैं। हम शरीर से ऊपर उठना चाहते हैं। शरीर जड़ या अचेतन है। हमारी आत्मा चेतन है, यही हमारा देवत्व है। हम संसार तथा शरीर में सीमित होने के कारण, असीम को नहीं पहचान पाते। परन्तु, इस असीम की ओर उन्मुख होने का प्रयास सतत् करते हैं। हमारा यह सतत् प्रयास ही बतलाता है कि असीम (आत्मा) की सत्ता है, जिसकी ओर हम उन्मुख हैं। हमारा प्रयास यह सिद्ध करता है कि हम किसी परम् को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। यही हमारा तात्विक विश्वात्मा या परमात्म स्वरूप है। यही पूर्णता है, जिसे प्राप्त करनेका हम सतत् प्रयास करते हैं। हमारा यह प्रयास ही सिद्ध करता है कि हम केवल पाँच भौतिक शरीर नहीं हैं यह तो हमारा सीमित स्वरूप है। इसके

[1] ज्ञान-योग, रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ0 350

परे हमारा असीम रूप (आत्मा या परमात्मा रूप) है, जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं।

उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म और जीव अभिन्न है। इस सन्दर्भ में **मुण्डक-उपनिषद्** में कहा गया है-

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकात् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।

तक्षाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ।।

अर्थात् 'जिस प्रकार अग्नि से निकली हुई विभिन्न चिनगारियाँ अग्नि से अभिन्न हैं, उसी प्रकार जीव ब्रह्म से अभिन्न है। जीव न आत्मा से भिन्न है न आत्मा का अंश है, न आत्मा का विकास है बल्कि, स्वतः आत्मा है। यदि जीव को ब्रह्म या आत्मा से भिन्न माना जाय तब जीव का ब्रह्म से तादात्म्य नहीं हो सकता है क्योंकि, दो विभिन्न वस्तुओं में तादात्म्यता की सम्भावना नहीं सोची जा सकती है।' इसमें अंशाशि भाव है।

जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या के लिए शंकर ने उपमाओं का प्रयोग किया है जिससे भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का निरूपण होता है। आचार्य शंकर प्रतिबिम्बवाद का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जब जल की भिन्न-भिन्न सतहों पर पड़ता है तब जल की स्वच्छता और मलिनता के अनुरूप प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ और मलिन दिख पड़ता है, उसी प्रकार एक ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जब अविद्या पर पड़ता है तब अविद्या की प्रकृति के कारण जीव भी विभिन्न आकार-प्रकार का दीख पड़ता है। जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल की विभिन्न सतहों पर पड़ने से वह अनेक चन्द्रमा के रूप में प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अविद्या-रूपी दर्पण पर पड़ने से वह अनेक दीख पड़ता है। प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त के विरूद्ध

आपत्तियाँ उपस्थित की गई हैं। आलोचकों का कथन है कि जब ब्रह्म और अविद्या आकृतिहीन हैं तब ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अविद्या पर कैसे पड़ सकता है? फिर यदि यह मान लिया जाय कि जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है तब यह मानना पड़ेगा कि जीव ब्रह्म से भिन्न है तथा असत्य है। शंकर प्रतिबिम्बवाद की कठिनाइयों से अवगत होकर ब्रह्म ओर जीव के सम्बन्ध की व्याख्या के लिए दूसरे सिद्धान्त का सहारा लेते हैं। जिस प्रकार एक आकाश, जो सर्वव्यापी है, उपाधिभेद से घटाकाश (घट के बीच का आकाश) रूप में परिलक्षित होता है उसी प्रकार एक ही सर्वव्यापी ब्रह्म अविद्या के कारण उपाधिभेद से अनेक जीवों के रूप में आभासित होता है। इस सिद्धान्त को 'अवच्छेदवाद' कहा जाता है। यह सिद्धान्त प्रतिबिम्बवाद की अपेक्षा अधिक संगत है। इस सिद्धान्त के द्वारा बतलाया गया है कि जीव सीमित होने के बावजूद ब्रह्म से अभिन्न है। जो लोग दोनों सिद्धान्तों से सहमत नहीं हो पाते, उन्हें शंकर यह कहते हैं कि जीव अपरिवर्तन ील ब्रह्म है जो अपने स्वरूप के बारे में अनभिज्ञ रहता है।

अनुभूत सम्पन्न होने के कारण उपनिषद् के ऋषियों ने जो बातें कहीं वहीं परमहंस देव जी भी कहते हैं। वे कहते हैं कि ब्रह्म ही एकमात्र तत्व है। जब ब्रह्म ही एकमात्र तत्व है, तो इससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता हे कि उसके अतिरिक्त जो वस्तुएँ होंगी वे निश्चित रूप से असत् होंगी। इसी तर्क के अनुसार श्री रामकृष्ण देव ने जीव को, जो ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, असत् कहा। जीव आकाश–कुसुम या बंध्या–पुत्र की तरह असत् नहीं है वरन् भ्रम की भाँति असत् है। जीव को भ्रम कहने का वास्तविक तात्पर्य क्या है? इसके उत्तर में श्री रामकृष्ण देव ने कहा कि जीव कपूर के समान है। जिस प्रकार कपूर के जलने पर कुछ भी अवशेष नहीं रहता, ठीक इसी प्रकार ब्रह्म–साक्षात्कार होने पर जीव का भी अवशेष विद्यमान नहीं रहता। जीव भ्रम की भाँति अदृश्य हो जाता है।

इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में श्री रामकृष्ण देव ने इस प्रकार समझाने की चेष्टा की है। जब तक नमक जल से पृथक् होता है, उसका पृथक अस्तित्व बना रहता है, पर जल के भीतर समाहित होने पर उसका पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान प्राप्त होने पर जीव का पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है।[1]

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो हमारे उपस्थित होता है, वह यह है कि यदि ब्रह्म और आत्मा ज्ञान–स्वरूप हैं और एक मात्र तत्व हैं तो आत्मा में भ्रम की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई? इस भ्रम का अधिष्ठान क्या है? यह तो निश्चित है कि अधिष्ठान स्वयं ब्रह्म है, जैसे रज्जु–सर्प का अधिष्ठान, रज्जु ही होती है। यह अवश्य है कि इस भ्रम का आदि बिन्दु नहीं बतलाया जा सकता। यही कारण है कि भारतीय दर्शन अविद्या, अज्ञान या भ्रम को अनादि स्वीकार करता है। **ए० एन० ह्वाइटहेड** का कहना है कि "भ्रम में रहते हुए हम भ्रम के मूल कारण को नहीं जान सकते। पर ब्रह्म साक्षात्कार के कारण भ्रम का निवारण होते ही जीव का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में भ्रम और अभ्रम, तथ्य और कल्पना सम्बन्धित सभी प्रश्न भी अप्रासंगिक हो जाते हैं। इस प्रकार भ्रम के मूल से सम्बद्ध सभी प्रश्न अमान्य हैं।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि जब तक हमारा पृथक् व्यक्तित्व बना रहेगा, हम द्वैत से कभी भी मुक्त नहीं हो सकते। बद्ध अवस्था में निरपेक्ष–तत्व के विषय में हमारी सारी कल्पनाएँ सापेक्ष रूप की ही होगी।

जीव और ब्रह्म की एकता के प्रसंग में श्री रामकृष्ण देव कहते है कि "पारे के सरोवर में यदि एक शीशे का टुकड़ा छोड़ दिया जाय तो वह

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश, अं० अनु०, पृ० 263

[2] Philosophy is concerned not with the causes but with the coherence of our knowledge-A N Whitehead

भी पारा बन जाता है। उसी प्रकार, ब्रह्मसागर में मग्न होकर जीव अपने सीमित अस्तित्व को खोकर ब्रह्म–रूप हो जाता है।[1] बद्ध अवस्था का कारण अज्ञान अथवा अविद्या है। इसी अविद्या के कारण ब्रह्म और जीव मे भेद प्रतीत होता है। किन्तु, श्री रामकृष्ण देव ब्रह्म और जीव में अभेद सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि जैसे बहते पानी लाठी या तख्ता डालने से जल विभक्त सा हो जाता है, वैसे ही माया रूपी उपाधि के कारण अखण्ड परमात्मा का जीवात्मा से भेद हुआ है।''[2] ''जैसे पानी और बुलबुला वस्तुतः एक ही हैं। बुलबुला पानी में ही उत्पन्न होता है, पानी में ही रहता है ओर अन्त में पानी में समा जाता है–वैसे हीं 'ब्रह्म और जीव अभिन्न' हैं।''[3] यहाँ पर आधाराधेय सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए भी श्री रामकृष्ण देव ने ब्रह्म और जीव में अभेद ही स्वीकार किया है। अतः आधाराधेय भाव एवं अभेद सम्बन्ध, दोनों में विरोध का अवकाश नही है।

स्वामी विवेकानन्द भी आत्मा और परमात्मा में अभेद सम्बन्ध मानते थे। उपनिषदों में इसे एक सुन्दर रूपक द्वारा समझाने की चेष्टा की गई है। उन्होंने दो पक्षियों के उदाहरण द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के भेद को समझाया है। किसी वृक्ष की उच्चतम डाली पर एक सुनहरा पक्षी बैठा है जो बिल्कुल शांत, सुस्थिर, तेजस्वी और यशस्वी है। उसके नीचे एक अन्य पक्षी बैठा है जो एक डाली से दूसरी डाली तक फुदकता रहता है। वृक्ष के कुछ फल मधुर हैं पर अन्य तिक्त हैं। नीचे वाला पक्षी कभी मधुर फल का आस्वाद लेता है और सुखी हो जाता है तथा कभी तिक्त फल खाता है और दुःखी हो जाता है। कभी किसी तिक्त फल को खाकर

[1] अमृतवाणी, पृ.– 8

[2] परमंहस चरित – स्वामी विज्ञानानन्द

[3] टीचिंग ऑफ रामकृष्ण, पृ. 13

वह इतना दुःखी हो जाता है कि फल खाना ही छोड़ देता है और अपने से ऊपर वाले पक्षी की ओर ध्यान से देखने लगता है जो न मधुर फल खाता है और न तिक्त फल ही और इसी कारण वह न सुखी होता है और न दुःखी ही। ऊपर वाले पक्षी की शांत व सुस्थिर अवस्था को देखकर वह उसी को अपना आदर्श मान लेता हैं थोड़े समय के बाद ही उसे पुनः फल खाने की इच्छा सताने लगती है। ज्यों वह किसी तिक्त फल को खाता है उसे एक झटका लगता है और पुनः वह ऊपर वाले पक्षी की ओर आकर्षित होता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती है जब तक कि उस पक्षी का भ्रम पूर्ण रूप से दूर नहीं हो जाता। भ्रम दूर होने पर नीचे वाला पक्षी ऊपर वाले पक्षी के समीप पहुंचता है। उसके सान्निध्य और प्रकाश से वह इस प्रकार प्रभावित हो जाता है कि उसके शरीर में पूर्ण परिवर्तन आ जाता है। अब उसे पूर्ण ज्ञान होता है कि वह वास्तव में स्वयं सुनहरा पक्षी था तथा उसके द्वारा मधुर व तिक्त फलों का खाया जाना और उसके परिणामस्वरूप सुख और दुःख का अनुभव होना एक प्रकार का स्वप्न ही था।[1]

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि स्वामी विवेकानन्द जीव को ब्रह्म का आभास मानते हैं। उनके अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु ब्रह्म की एक अभिव्यक्ति है। अद्वैत वेदान्त, रामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानन्द सभी की दृष्टि में जीव और ब्रह्म का भेद अस्थायी और अव्यावहारिक है। उनका नितान्त एकत्व ही वास्तविकता है।

ब्रह्म ही एक ऐसी इकाई है जो अन्य इकाइयों की समष्टि नहीं है; वह अखण्ड है, वह क्षुद्र जीवाणु से लेकर ईश्वर तक समस्त भूतों में

---

[1] सेलेक्टेड वर्क्स, पृ. 19

व्याप्त है; उसके बिना किसी का अस्तित्व संभव नहीं और जो कुछ भी सत्य है; वह ब्रह्म ही है।

स्वामी जी के अनुसार **'अयमात्मा ब्रह्म'** अर्थात् यह आत्मा ही ब्रह्म है आदि महावाक्यों से जीवात्मा और परमात्मा में अभेद का प्रतिपादन किया गया है क्योंकि दोनों सत्, चित् और आनन्द रूप हैं। एक आवश्यक प्रश्न यह है कि यदि दोनों में अभेद है तो हमें इस अभेद का सर्वदा अनुभव क्यों नही होता? स्वामी जी का उत्तर है कि हम सर्वदा अपने को ससीम तथा सांसारिक समझते हैं। हम अपने असीम और अनन्त रूप को नहीं जान पाते, क्योंकि शरीर, इन्द्रिय, मन आदि के ऊपर नहीं उठ पाते। हम शरीर, इन्द्रिय, मन आदि को ही अपना तात्त्विक रूप मान लेते हैं। ये सभी सीमित हैं। जब हम ससीम का अतिक्रमण कर लेते हैं तभी असीम को जान पाते हैं। वस्तुतः इन ससीम शक्तियों में भी हमें असीम की झलक मिलती है परन्तु, हमारी दृष्टि इतनी संकुचित तथा सीमित है कि असीम का बोध हमें नही हो पाता। हमें इसकी झलक तो मिलती है परन्तु, हम इसे समझ नहीं पाते। जब हम बौद्धिक ज्ञान के ऊपर उठते हैं तो हमें तत्व का बोध होता है। तभी हमें यह भी बोध होता है कि जीवात्मा 'नित्य', 'कूटस्थ', 'शुद्ध', 'बुद्ध', 'सत्', 'चित्', आनन्दरूप होने के कारण स्वयं परमात्मा ही है।

स्वामी विवेकानन्द जीव को स्वतंत्र कर्ता स्वीकार करते हैं। वे इस प्रकार के किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार करने को तैयार नहीं जिससे जीव की निर्बलता और पराश्रयता को प्रश्रय मिले। **"यदि जीव सुखी और दुःखी है तो केवल स्वयं के कर्मों के कारण ही है। जीव ही कार्य है और जीव ही कारण है। अतः जीव स्वतंत्र है।"** मनुष्य की इच्छाशक्ति किसी घटना के अधीन नहीं है। मनुष्य की प्रबल, विराट्, अनन्त

इच्छा ाक्ति के सामने सभी शक्तियां, यहाँ तक कि प्राकृतिक ाक्तियां भी सिर झुका सकती हैं।

इस सन्दर्भ में श्री रामकृष्ण देव कहते हैं कि ईश्वर की कृपा मनुष्य के प्रारब्ध के संस्कारों को क्षीण कर सकती है। ईश्वर प्रारब्ध या भाग्य और पुरुषार्थ का परस्पर सम्बन्ध बताते हुए वे एक चरवाहा और उसकी गाय का सुन्दर दृष्टान्त देते हैं। इस दृष्टान्त में चरवाहा ईश्वर है, गाय जीव और रस्सी की लम्बाई प्रारब्ध। जीव को जो प्रारब्ध मिला है, उसमें वह कार्य करने के लिए स्वतंत्र है। यदि वह पुरुषार्थ प्रकट करता है तो अपनी मिली स्वतंत्रता का सदुपयोग करता है और ईश्वर को पुकारता है तो ईश्वर कृपा करके उसके स्वतंत्रता के घेरे को बढ़ा देते हैं। एक दिन ऐसा भी होता है कि जब वे जीव की रस्सी खोलकर उसे बन्धनमुक्त भी कर देते हैं।[1] पर जो अपनी प्राप्त स्वतंत्रता का सदुपयोग नही करता, उद्यम और पुरुषार्थ को प्रकट नहीं करता, वह भले ही ईश्वर को पुकारे, पर ईश्वर सुनने वाले नहीं हैं। यह ईश्वर–कृपा, पुरुषार्थ और प्रारब्ध के परस्पर सम्बन्ध की अनुपम व्याख्या है।

(5) श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द के जीव सम्बन्धी विचारों की समीक्षा–

आचार्य शंकर ने जीव की **तीन** अवस्थायें मानी हैं– **जाग्रत, स्वप्न** और **सुषुप्ति। जाग्रत अवस्था** में जीव स्थूल शरीर और इन्द्रियों से अपना तादात्म्य स्थापित करता है और उसे 'वैश्र्व' कहते हैं। स्वप्नावस्था में इन्द्रियां कार्य नहीं करतीं, किन्तु मन अपना कार्य करता रहता है। जाग्रत अवस्था में मन पर जो संस्कार पड़ते हैं उनको लेकर वह काल्पनिक विषयों की रचना करता है। इस अवस्था में जीव सूक्ष्म शरीर से अपना

[1] गीतातत्त्व चिन्तन – स्वामी आत्मानन्द, पृ. 226

तादात्म्य रखता है और उसे **'तैजस्'** कहते हैं। **सुषुप्तावस्था** में न मन कार्य करता है और न इन्द्रियां। इस समय अन्तःकरण अपने मूल अर्थात् अविद्या में वापस चला जाता है। अविद्या जीव का कारण शरीर है। इस अवस्था में जीव को **'प्राज्ञ'** कहते हैं।[1]

इस बिन्दु पर श्री रामकृष्ण कुछ विशेष चर्चा न करते हुए कहते हैं कि 'यद्यपि सभी जीव वास्तव में परमात्मा रूप हैं फिर भी, उनकी विभिन्न अवस्थायें होती हैं।' उनके अनुसार मनुष्य मानों तकिए के गिलाफ हैं, ऊपर से देखने पर कोई गिलाफ लाल है तो कोई काला परन्तु, सबके भीतर रूई ही विद्यमान है। उसी प्रकार देखने में कोई मनुष्य सुन्दर है तो कोई कुरूप, कोई महात्मा है तो कोई दुराचारी पर, सबके भीतर वही परमात्मा विराजमान है।[2]

संसार में मुख्य रूप से **दो** प्रकार के स्वभाव वाले मनुष्य पाए जाते हैं। कुछ तो सूप की तरह स्वभाव वाले होते हैं और कुछ चलनी की तरह। जिस प्रकार सूप भूसी इत्यादि असार वस्तुओं का त्याग करके अनाज आदि सारयुक्त वस्तुओं को ग्रहण करता है, उसी प्रकार संसार में कुछ ऐसे भले मनुष्य हैं जो संसार की असार वस्तुओं (कंचन, कामिनी इत्यादि) को छोड़कर सारयुक्त वस्तु अर्थात् भगवान् को ग्रहण करते हैं। इसके विपरीत जिस प्रकार चलनी सारयुक्त वस्तुओं का परित्याग कर असारयुक्त वस्तुओं को अपने में रख लेती है, उसी प्रकार संसार में कुछ ऐसे बुरे व्यक्ति हैं जो सारयुक्त वस्तु, ईश्वर का परित्याग कर असारयुक्त वस्तुओं, जैसे –कंचन, कामिनी इत्यादि को ग्रहण करते हैं।[3]

[1] शां. भा. – माण्डूक्यकारिका 1 2
[2] श्री रामकृष्ण उपदेश पृ. 16
[3] श्री रामकृष्ण उपदेश, पृ. 17

श्री रामकृष्ण देव बड़े ही सरल शब्दों में कहते हैं कि 'पापी मनुष्यों का हृदय घुंघराले बाल की तरह होता है। जिस प्रकार घुंघराले बालों को सीधा नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार दुष्ट व्यक्तियों के हृदय को भी शुद्ध व पवित्र नहीं किया जा सकता। पुनः विषयी मनुष्यों का मन गोबर के कीड़े की भांति होता है। यह कीड़ा गोबर में ही अधिक रहना पसंद करता है। यदि उसे गोबर से हटाकर पद्म में रख दिया जाय तो वह छटपटाया करता है। विषयी मनुष्यों का मन भी इसी प्रकार विषय-वासना में लगा रहता है। यदि उन्हें ईश्वर की कथा सुनाई जाय तो वे उस स्थान को त्यागकर जहां विषय वासना की बातें होती हैं, वहां चले जाते हैं।'[1]

सांसारिक मनुष्य यदि कभी भक्ति की बातें भी करते हैं तो वह क्षणिक ही होता है। उनका धार्मिक अनुष्ठान भी किसी भौतिक लाभ के लिए ही होता है। पर ज्योंहि उनके ऊपर कोई आपत्ति-विपत्ति आती है, वे अपनी धार्मिकता का परित्याग कर अपने वास्तविक रूप में आ जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों की उपमा उस तोते से दी गई है जो दिन-रात 'राधा-कृष्ण', 'राधा-कृष्ण' चिल्लाता रहता है, पर ज्योंहि कोई बिल्ली उसे पकड़ लेती है, वह 'राधा-कृष्ण', को भूलकर 'टें-टें' करने लगता है। पुनः जो सांसारिक लाभ के लिए ईश्वर की आराधना करते हैं, उनकी हालत उस किसान की तरह होती है जो दिन भर गन्ने की खेत में सिंचाई करता है पर सारा पानी खेत में न जाकर चूहे के बिलों में चला जाता है।[2]

स्वामी विवेकानन्द ने इस विषय पर व्यापक विचार किया है। आचार्य शंकर की भांति वे भी जीव की तीन अवस्थायें जाग्रत, स्वप्न,

[1] वही, पृ. 17
[2] वही, (अं.अनु.) पृ. 83

सुषुप्ति को स्वीकार करते हैं। हम सब अपने अनुभव से जानते हैं कि जागने और सोने की दो अवस्थाएं हैं। जागने पर हम बाह्य जगत् का अनुभव करते हैं और उसमें व्यवहार भी करते हैं। सोने पर हमारा सम्बन्ध इससे टूट जाता है। निद्रा की दो अवस्थाएं होती हैं– स्वप्नरहित अर्थात् सुषुप्ति और स्वप्न सहित। इस प्रकार चौबीस घण्टे में हम इन्हीं तीन अवस्थाओं में विचरण करते हैं। इन तीन अवस्थाओं का सम्बन्ध हमारे तीन शरीरों से किस प्रकार का है? इसका उत्तर यह है कि आत्मा अशरीरी है किन्तु अविद्या के कारण इस तथ्य का ज्ञान नही होता है, मानो आत्मा अविद्या रूपी कारण शरीर से आवृत्त हो गया । यही कारण है कि शरीरधारी आत्मा जब सूक्ष्म और स्थूल शरीरों से तादात्म्य करता है तो वह तीनों शरीरों से युक्त होता है। 'जगत् में स्थित शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को हम श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना और घ्राण से ग्रहण करते हैं। जिस समय यह व्यापार होता है उसे 'जाग्रत अवस्था' कहते हैं।'[1]

अब प्रश्न यह उठता है कि स्वप्नावस्था क्या है?, तो उसका उत्तर यह है कि निद्रा की एक अवस्था स्वप्न है। स्वप्न की रचना जीव की अपनी वासनाओं से होती है। ये वासनाएं जाग्रत अवस्था में बनती है। जब हम विषयों की आसक्ति में बंधकर उनका भोग करते हैं तो हमारे चित्त में उनका संस्कार बनता है। बीज रूप में वासना आत्मस्वरूप का आवरण बनती है और वही प्रपंच का विस्तार कर स्वप्नलोक रच देती है। स्वप्न की अवस्था में आत्मा का सम्बन्ध कारण और सूक्ष्म शरीरों से ही रह जाता है। इस अवस्था में जीव की संज्ञा को 'तैजस' कहते हैं। स्वप्नलोक में सूर्य का प्रकाश नहीं पहुंचता। वहां आत्मा के प्रकाश में ही सब कुछ दिखलाई देता है। ज्ञाता और ज्ञेय दोनों ही सूक्ष्म प्रकृति से

[1] तत्वबोध, पृ. 19

निर्मित हैं। उसे आत्मा की चेतना उसी प्रकार प्रकाशित करने में समर्थ है जैसे हम अपनी बुद्धि को आत्मा से प्रकाशित करते हैं।[1]

स्वप्न के अतिरिक्त निद्रा की दूसरी अवस्था **सुषुप्ति** है। इस समय कुछ भी ज्ञान नहीं होता। जागने पर स्मरण आता है कि मैं गहरी नींद में सुख से सोता रहा। यही स्मृति जीवात्मा को उस अवस्था के अनुभव का प्रमाण है। स्वप्न और जागृति का अनुभव न रह जाने के कारण उनका दुखद प्रभाव भी ज्ञात नहीं होता। इसलिए वह सुख की अवस्था है। सुषुप्ति का सुख जाग्रत और स्वप्न के सुख की अपेक्षा उच्च स्तर का है। जागते समय कोई व्यक्ति कितना ही धनी और सुखों से भरपूर हो किन्तु सुषुप्ति का सुख वह भी चाहता है, इसीलिए वह ऐसा बिस्तर बनाकर सोता है जिससे उसकी नींद में बाधा न पड़े।

सुषुप्ति अवस्था में आत्मा का तादात्म्य एक ही शरीर से रहता है। यह शरीर अविद्या या वासना से निर्मित होने के कारण आत्मा को आवृत्त कर लेता है। अतः कारण शरीर का अभिमानी जीव न अपने आत्मस्वरूप को जानता है और न नामरूपात्मक जगत् को ही जानता है। दोनों प्रकार से प्रकर्ष अज्ञान होने के कारण इस अवस्था में जीव को **प्राज्ञ** कहते हैं। फिर भी इस अवस्था का अनुभव जीव को रहता है, तभी तो जागने पर वह उसका स्मरण करता है। यदि सुषुप्ति में इतना अधिक अज्ञान हो गया हो कि उसका स्मरण भी न रहे तो हमें उस अवस्था की जानकारी नहीं हो सकती। इस तर्क के आधार पर हम कह सकते हैं कि **'प्रायेण अज्ञः'** होने के कारण ही उस समय जीव प्राज्ञ होता है।[2]

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश, पृ. 18

[2] तत्व बोध पृ. 14

जीव की इन तीनों अवस्थाओं के विवेचन से स्पष्ट है कि कि आत्मा अशरीरी है। वह शरीर धारण कर जीव कहलाता है। जीव सुषुप्ति में अपने-पराये को नहीं जानता किन्तु स्वप्न और जाग्रत अवस्था में नानात्व का अनुभव करता है। शुद्ध आत्मा इन तीनों का प्रकाशक और इनसे असंग है। इसलिए वह 'साक्षी-द्रष्टा' अथवा 'तुरीय' कहलाता है।

जीव का बन्धन केवल उसी कल्पना में ही है, वस्तुगत या सत्तागत नहीं है। अतः बन्धन और मोक्ष की केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य हैं। पारमार्थिक सत्य तो यह है कि जीव न कभी बन्धन में पड़ता है और न कभी मोक्ष को प्राप्त करता है। यहाँ पर बन्ध-मोक्ष, जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति की संक्षेप में चर्चा की गई है।

यदि जीव का बन्धन मिथ्या है और उसके मन में भ्रम, केवल अज्ञान, उपाधियों के साथ दोषपूर्ण तादात्म्य का अध्यास के कारण है तो स्पष्ट है कि उसका मोक्ष इस भ्रम, अज्ञान, अध्यास, दोषपूर्ण तादात्म्य इत्यादि के दूर होने में निहित है। रज्जु-सर्प भ्रम के दूर होने में अधिष्ठान रज्जु में कोई रूपान्तरण नहीं होता बल्कि उसका केवल वास्तविक ज्ञान या पुनर्मूल्यांकन ही होता है। तात्पर्य यह है कि अद्वैत के अनुसार मोक्ष प्राप्त करने में जो परिवर्तन होता है वह बाह्य जगत् में नहीं बल्कि बाह्य जगत् के प्रति हमारे दृष्टिकोण में अर्थात् मानसिक जगत् में होता है।

श्री रामकृष्ण देव कहते हैं कि जीव वास्तव में सच्चिदानन्द स्वरूप है, किन्तु अहंभाव के कारण वह विभिन्न उपाधियों में उलझकर अपने यथार्थ स्वरूप को भूल बैठा है।[1] बड़े-बड़े गोदामों में चूहों को पकड़ने के लिए दरवाजे के पास चूहादानी रखकर उसमें लाही मुरमुरे रख दिए जाते हैं। उसकी सोंधी-सोंधी महक से आकृष्ट हो चूहे गोदाम में रखे हुए

[1] अमृतवाणी, पृ. 1

कीमती चावल का स्वाद चखने की बात भूल जाते हैं और लाही खाने जाकर चूहादानी में फंसकर मारे जाते हैं। जीव का भी ठीक यही हाल है। कोटि–कोटि विषय सुखों के घनीभूत समष्टिस्वरूप ब्रह्मनन्द के द्वारदेश पर अवस्थित होते हुए भी जीव उस आनन्द को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न न कर संसार के क्षुद्र विषयसुखों में लुब्ध हो मायापाश में फंसकर दुर्गति को प्राप्त होता है।[1] परमहंस देव पुनः कहते हैं कि उस 'एक' ईश्वर को जानों। उसे जानने से तुम सभी कुछ जान जाओगे। 'एक' के बाद शून्य लगाते हुए सैकड़ों और हजारों की संख्या प्राप्त होती है, परन्तु 'एक' को मिटा डालने पर शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता। 'एक' ही के कारण शून्यों का मूल्य है। पहले 'एक' बाद में 'बहु'। पहले ईश्वर, फिर जीव–जगत्।[2]

वासना साधना की सबसे बड़ी अवरोधक वस्तु है। गीली मिट्टी से कोई भी वस्तु बनाई जा सकती है, परन्तु पकी हुई मिट्टी किसी भी वस्तु के निर्माण में काम नहीं आ सकती। इसी प्रकार जिस व्यक्ति का हृदय विषय की ज्वाला में पक गया है, उसमें पारमार्थिक भाव नही आ सकता।[3] कागज में यदि तेल लगा हो तो उस पर लिखा नही जा सकता, उसी प्रकार जीव में जब कामिनी कंचन रूपी तेल लग जाता है तो उसके द्वारा साधना नहीं हो सकती; उसी कागज को जब त्याग रूपी खड़िये से घिसकर शुद्ध कर दिया जाय तो साधना आसानी से की जा सकती है।[4] वासना का चिह्न मात्र भी रह जाने पर भगवान् प्राप्त नहीं हो सकते। धागे में यदि जरा भी गांठ पड़ी हो तो सुई के छेद में नहीं डाला जा

[1] अमृतवाणी, पृ. 5
[2] वही, पृ. 4
[3] श्री रामकृष्ण उपदेश, पृ. 53
[4] वही, पृ. 54

सकता। मन जब वासनारहित होकर शुद्ध हो जाता है, तभी सच्चिदानन्द का लाभ होता है।[1]

ज्ञान के द्वारा जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। **ज्ञान तीन प्रकार का होता है। प्रथम 'सांसारिक व्यक्तियों का ज्ञान है,'** जिसकी तुलना कमरे के लालटेन की रोशनी से की जा सकती है जो केवल कमरे को ही प्रकाशित कर सकती है, बाहर की वस्तुओं को नहीं। **द्वितीय** श्रेणी के भीतर **'भक्तों का ज्ञान'** आता है, जिसकी तुलना चन्द्रमा की रोशनी से की जा सकती है जो कमरे के भीतर और बाहर दोनों ओर वस्तुओं को प्रकाशित करती है। **तीसरा** ज्ञान **'अवतारी पुरुषों का ज्ञान'** है जिसकी तुलना सूर्य की रोशनी से की जा सकती है जो गहनतम अन्धकार को एक साथ दूर कर सकती है।

यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि वह उच्चतर ज्ञान क्या है? तो इसका उत्तर यह है कि **आत्म-ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान** है। श्री रामकृष्ण देव कहा करते थे कि जिस व्यक्ति को अपनी आत्मा का ज्ञान हो गया उसे जगत् और ईश्वर का भी ज्ञान हो गया। जिस प्रकार प्याज के भीतर सब छिलका ही छिलका होता है, उसके भीतर कोई सारतत्व नहीं होता, उसी प्रकार अहं में भी कोई वास्तविकता नहीं होती, सब छिलका ही छिलका होता है। अहं के दूर हो जाने पर भीतर और बाहर का भेद मिट जाता है और सर्वत्र ईश्वर ही दिखाई पड़ने लगते हैं।[2]

इस विषय को स्पष्ट करते हुए श्री रामकृष्ण देव जी एक लघु कथा कहते हैं। एक व्यक्ति को हुक्का पीने की आदत थी। वह आदमी हुक्का जलाने के लिए आधी रात को लालटेन लेकर सबके दवाजे खटखटाता

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश, पृ. 56
[2] वही, (अं. अनु.) पृ. 225

रहा। दरवाजा खोलने पर एक व्यक्ति ने कहा, 'भाई'! तुम व्यर्थ सबका दरवाजा खटखटा रहे हो। तुम्हारे पास जो लालटेन है उसी से अग्नि पैदा कर अपने हुक्के को सुलगा सकते हो। इसी प्रकार भगवान् स्वयं हमारे पास विद्यमान हैं। इस बात को न जानकर हम उन्हें दर–दर ढूंढ़ते हैं। ज्यों ही हमें इस बात की जानकारी हो जाती है कि भगवान् हृदयस्थ हैं हमें ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, जो मोक्ष का कारण है।[1]

इस सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि जीव स्वयं ब्रह्म है, परन्तु अनादि अविद्या (माया) के कारण वह इस तथ्य को भूल जाता है और स्वयं को मन, शरीर, इन्द्रियां इत्यादि समझने लगता है। यही उसका अज्ञान है, और इसी कारण वह स्वयं को बन्धन में पड़ा समझता है। परन्तु जब वह दोषपूर्ण तादात्म्य समाप्त हो जाता है तो जीव यह अनुभव करता है कि वह तो अनादि काल से ब्रह्म ही था। अतः वह मुक्त ही था। इस प्रकार जीव का बन्धन केवल उसकी कल्पना में ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव के बन्धन का कारण स्वयं उसके मन में ही है, कहीं बाहर नहीं है। बन्धन मानसिक है, सत्तागत नहीं, इसलिए यह बन्धन भी केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है। पारमार्थिक सत्य तो यह है कि जीव न कभी बन्धन में पड़ता है और न कभी मोक्ष को प्राप्त करता है। **रामकृष्ण–विवेकानन्द कहते हैं कि बन्धन और मोक्ष दोनों का सम्प्रत्यय केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है।**

जीव अनादि काल से ही ब्रह्म होने के कारण मुक्त है, परन्तु उसे यह ज्ञान केवल अज्ञान के दूर होने पर ही प्राप्त होता है। मोक्ष की प्राप्ति को स्वामी जी गुम हुए हार के गले पर ही प्राप्त हो जाने के दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। इस दृष्टान्त में हार ज्ञाता के गले पर ही था। परन्तु

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश, (अ. अनु) पृ. 225

वह इस तथ्य को भूल गया और यह समझने लगा कि उसका हार गुम हो गया है। उसकी सर्वत्र खोज की गई। फिर किसी व्यक्ति ने (मोक्ष प्राप्ति के सम्बन्ध में, सद्गुरू ने) उसे बताया कि हार तो उसके गले में ही है। तब उसे यह ज्ञान प्राप्त होता है कि जिस हार को वह ढूंढ रहा है वह तो वस्तुतः कभी गुम हुआ ही नही था। अज्ञानवश ही वह ऐसा समझ रहा था। वेदान्त में अनेक बार इस विषय को इसी शैली से समझाया गया है। यह **'ग्रीवास्थ ग्रैवेथक'** कहलाता है। ठीक उसी प्रकार, जीव नित्य ब्रह्म ही है। अतः वह नित्य मुक्त है परन्तु, उसे इस सत्य का ज्ञान केवल तब होता है जब उसका अंज्ञान दूर हो जाता है, जब वह शरीरादि उपाधियों से अपना तादात्म्य समाप्त कर अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

उपनिषदों के अनुसार मोक्ष का अर्थ शरीर का नाश नहीं, बल्कि अज्ञान का नाश होता है। अतः वे जीवन्मुक्ति को मानते हैं। एक ही मुक्ति शरीर धारण करने की अवस्था में जीवन्मुक्ति कहलाती है। जीवन्मुक्त व्यक्ति का अपने शरीर के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता। वह नीर में नीरज के समान संसार में निर्लिप्त भाव से लोक–कल्याण के कार्य करता है। सर्प के लिए जिस प्रकार पुरानी केंचुली का कोई महत्व नहीं रह जाता, उसी प्रकार मुक्त पुरुष शरीर को अनासक्त भाव से धारण किए रहता है। **श्रुति** भी कहती है जिस प्रकार कमल जल में रहते हुए भी गीला नही होता, उसी प्रकार मुक्त पुरुष कर्मो को करते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होता। अतः वह उनसे नहीं बंधता।

शंकराचार्य भी इस सिद्धान्त को कि मोक्ष शरीर रहते भी प्राप्त हो सकता है और उसका शरीर की उपस्थिति के साथ कोई विरोध नहीं है, प्रबल समर्थक हैं। वे कहते हैं कि शरीर तो प्रारब्ध कर्मो का फल है। जब

तक इनका फल समाप्त नहीं हो जाता, शरीर विद्यमान रहता है। जिस प्रकार कुम्हार का चाक कुम्हार के द्वारा घुमाना बन्द कर दिये जाने पर वेग नामक संस्कार के कारण कुछ काल तक घूमता रहता है, उसी प्रकार मोक्ष प्राप्त कर लेने के बाद भी पूर्व-जन्म के कर्मों के अनुसार शरीर कुछ काल तक जीवित रहता है।

श्री रामकृष्ण-विवेकानन्द जीवन्मुक्ति के समर्थक हैं। श्री रामकृष्ण देव जीवन्मुक्ति के विषय में कहते हैं कि संसार में रहते हुए भी यदि कोई मनुष्य चाहे तो मोक्ष प्राप्त कर सकता है। लोहे की तलवार को पारस से स्पर्श कराने से वह सोने की हो जाती है। उसकी आकृति तो वैसी ही रहती है, किन्तु उससे हिंसा का कार्य नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार भगवान् के पादपद्म स्पर्श करने पर मनुष्य से कोई अन्याय नहीं हो सकता। पुनः लोहा यदि एक बार पारस को छूकर सोना हो जाय तो उसे चाहे मिट्टी के भीतर दबाए रखिए, चाहे कूड़े में फेंक दीजिए, रहेगा वह सोना ही। उन्होंने सच्चिदानन्द ब्रह्म का अनुभव कर लिया है, उनकी भी ऐसी ही अवस्था है। वे संसार में रहें या वन में रहें, उन्हें दोष स्पर्श नहीं कर सकता।[1]

अब यहाँ पर प्रश्न यह है कि मुक्त पुरुष संसार में कैसे रहते हैं? तो, श्री रामकृष्ण देव जी कहते हैं कि- पनडुब्बी चिड़िया के समान, जो पानी में रहती तो है परन्तु उसके बदन पर पानी नहीं लगता। यदि कभी थोड़ा लगता भी है तो एक बार बदन झाड़ देने से तत्काल सारा पानी गिर पड़ता है।[2] इसी प्रकार मुक्त पुरुष की उपमा आंधी से उड़ी पत्तल से

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश, (अं. अनु.) पृ. 97
[2] श्री रामकृष्ण उपदेश, (अं. अनु.) पृ. 99

दी गई है। उसकी अपनी कोई इच्छा या अभिमान नहीं होता। हवा उसको उड़ाकर, जिस ओर ले जाती है, वह उसी ओर चली जाती है।[1]

स्वामी विवेकानन्द जीवन्मुक्ति के विषय में कहते हैं कि जीवन्मुक्ति व्यक्ति संसार में रहता है फिर भी संसार के द्वारा ठगा नहीं जाता है। वह संसार के कर्मों में भाग लेता है, फिर भी वह बन्धन-ग्रस्त नही होता। इसका कारण यह है कि उसके कर्म अनासक्त भाव से किए जाते हैं। जो कर्म आसक्त भाव से किए जाते हैं उससे फल की प्राप्ति होती है।[2] परन्तु निष्काम कर्म या अनासक्त कर्म भुजे हुए बीज की तरह हैं जिनसे फल की प्राप्ति नहीं होती है। गीता के निष्काम कर्म को स्वामी जी मान्यता देते हैं। वे कहते हैं कि वे कर्म के फलों में आसक्ति रखने से मन की शक्ति नष्ट हो जाती है।[3] अतः मन, मस्तिष्क एवं इन्द्रियादि से कार्य तो करना चाहिए परन्तु उन पर उसका प्रभाव नहीं पड़ने देना चाहिए । शनैः शनैः समस्त व्यक्तिगत एवं स्वार्थयुक्त कर्मों का त्याग कर केवल परार्थ कर्म करना ही उचित है। परार्थ किया हुआ निःस्वार्थ कर्म कदापि बन्धनकारी नही हो सकता।[4] यही मुक्ति-लाभ का अर्थ है। कार्य-कारण में या देशकाल में सीमित होकर, क्षुद्र शरीर की कामनाओं की तृप्ति के लिए किया गया कर्म ही बन्धक होता है। जो कार्य स्वाधीन होकर अनन्त के लिए किया जाएगा वह न बन्धक होगा न सीमित। स्वामी जी ने कर्म-फलासक्ति को त्यागने का उपाय फलों को ईश्वरार्पित करना बतलाया है।[5] स्वामी जी सरल शैली में मुक्ति का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश पृ. 103
[2] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड-3 पृ 11
[3] कर्मयोग, पृ. 15
[4] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड-1 पृ. 86
[5] वही, खण्ड-1 पृ. 100

शुभ या अशुभ कर्मों के बन्धन से रहित हो जाना ही मुक्ति है।[1] जीवन्मुक्ति विषयक शंका का समाधान करते हुए उन्होंने कहा है– 'सत्य की उपलब्धि हो जाने पर तुरन्त मृत्यु नहीं हो जाती है। जब आत्मारूपी पहिया रुक जाता है तब आत्मा यह सोचना छोड़ देती है कि उसका आवागमन, जन्म–मृत्यु आदि सत्य है। परन्तु फिर भी शरीर और मनरूपी पहियों में पूर्व–कर्मों का वेग अवशिष्ट रहता है और जब तक वे नष्ट नहीं हो जाते तब तक शरीर और मन भी बने रहते हैं।

जब जीवन्मुक्त व्यक्ति के सूक्ष्म और स्थूल शरीर का अन्त हो जाता है तब विदेह–मुक्ति की प्राप्ति होती है। विदेह–मुक्ति मृत्यु के उपरान्त उपलब्ध होती है। जिस प्रकार सागर से मिलने पर विभिन्न नदियाँ अपना नाम और रूप खो देती हैं और सागर के साथ एक होकर स्वयं सागर बन जाती हैं उसी प्रकार मुक्त–जीव ब्रह्म में अपने नाम और रूप खो देते हैं और ब्रह्म के साथ एक होकर स्वयं ब्रह्म रूप बन जाते हैं। मोक्ष में व्यवहारिक जीवन के सभी भेद समाप्त हो जाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि मुक्त आत्मा सभी प्रकार के भयों से मुक्त होकर अभय हो जाती है। मुक्त पुरुष 'है' और 'चाहिए' के द्वैत से ऊपर उठ जाता है। 'है' और 'चाहिए' का द्वैत, जो कि नैतिक जीव के मूल में है, मनुष्य को केवल तभी तक चिन्तित करता है, जब तक कि ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो जाता।

श्री रामकृष्ण परमहंस देव बड़े ही सरल शब्दों में कहते हैं कि सिद्ध पुरुष संसार के आवागमन से मुक्त हो जाते हैं। धान बोने से अंकुर पैदा होता है, परन्तु उसी धान को सिद्ध करके (उबालकर) बोने से उससे अंकुर नहीं उगता। इसी प्रकार जो लोग सिद्ध हो गए हैं, उन्हें इस संसार में

[1] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड–5 पृ 317

जन्म नहीं लेना पड़ता।[1] हंस को दूध और पानी मिलाकर देने से जिस प्रकार वह दूध पीकर जल छोड़ देता है, उसी प्रकार मुक्त–पुरुष संसार में सार–वस्तु सच्चिदानन्द को ग्रहण कर असार वस्तु संसार को त्याग देते हैं। पहले अज्ञान रहता है, उसके बाद ज्ञान होता है। अन्त में जब सच्चिदानन्द का लाभ होता है, तब सच्चिदानन्द तत्व की अनुभूति होती है। जैसे शरीर में कांटा चुभने पर कहीं से यत्न पूर्वक एक कांटा लाकर उस कांटे को निकालते हैं फिर दोनों कांटों को फेंक देते हैं। सिद्ध अवस्था द्वन्द्वातीत अवस्था है।[2] वह अद्वैत अवस्था है जो परमानन्द की अवस्था है।

स्वामी विवेकानन्द विदेह–मुक्ति के सम्बन्ध में कहते हैं कि देह धारण की प्रक्रिया का सर्वदा तथा सर्वथा समाप्त हो जाना ही विदेहमुक्ति है। यह शरीर का अन्तिम मरण है। पुनः शरीर धारण नहीं होता, क्योंकि सभी कर्म और संस्कार सबीज नष्ट हो जाते हैं। यह अवस्था वर्तमान शरीर के समाप्त होने पर ही सम्भव है।

यहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि यदि 'जीव' और ब्रह्म के ऐक्य के ज्ञान से ही मोक्ष होता है तब इस अभेद ज्ञान के साक्षात्कार का क्या साधन है? उपनिषदों में आत्मसाक्षात्कार के लिए **श्रवण, मनन** एवं **निदिध्यासन** ये तीन मार्ग बतलाए गए हैं। **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि आत्मनो वा दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्व विदितम्।'**[3] सर्वप्रथम जीव को गुरुमुख से ब्रह्म और आत्मा के अभेद–ज्ञान का श्रवण करना चाहिए। तदुपरान्त इस अभेद–ज्ञान के ऊपर तर्कपूर्वक मनन करना चाहिए। लेकिन 'श्रवण' एवं 'मनन' होने पर भी जीव में पूर्णज्ञान का अभाव हो सकता है

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश, पृ. 103
[2] श्री रामकृष्ण उपदेश, पृ. 104
[3] बृहदारण्यक उपनिषद् 2.4.5

क्योंकि केवल श्रवण और तर्क से ही उसे ब्रह्म–ज्ञान की प्राप्ति होना दुष्कर है। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्मनुभूति की सम्प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि जीव 'श्रवण' एवं 'मनन' के विषयभूत आत्माभेद–ज्ञान का बारंबार चिन्तन अथवा ध्यान करे– इस ध्यान को उपनिषदों में 'निदिध्यासन' कहा जाता है।

शंकर ने एक मात्र ज्ञान को ही मोक्ष का उपाय माना है। वे कहते हैं कि वेदान्त दर्शन के सम्यक् अध्ययन से ही व्यक्ति सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वेदान्त–दर्शन के अध्ययन के लिए व्यक्ति को कई शर्तो का पालन करना पड़ता है। वे शर्त **'साधन- चतुष्टय'** हैं। ईश्वर के निकट पहुंचने के लिए ज्ञान, कर्म एवं भक्ति इन तीनों के समन्वय का प्रयास भी श्री रामकृष्ण देव एवं स्वामी विवेकानन्द के विचारों में मिलता है। ज्ञान–योग एवं भक्ति–योग दोनों ही सत्य हैं। सभी मार्गो से ईश्वर के निकट पहुंचा जा सकता है। निष्काम कर्म से ईश्वर प्राप्ति का सन्देश भी श्री रामकृष्ण देव ने यदा–कदा दिया है।[1]

निष्कर्ष –

उपनिषदों तथा अद्वैत वेदान्त की परम्परा के अनुसार जीव साक्षात् ब्रह्म ही है। नानात्व अथवा बहुत्व अन्तःकरण उपहित चेतना के लिए व्यवहृत हुआ है। जीव–विषयक समस्त सिद्धान्तों की आलोचनायें इस व्यावहारिक जीव बहुत्व और जीवों की एकता और ब्रह्मरूपता के मध्य विसंगति से ही निकलती है। इस दृष्टि से जीव का यर्थाथ स्वरूप आत्मा एवं ब्रह्म में पूर्ण एकत्व है। यही परम सत्य है, किन्तु अज्ञानावस्था में जीवनानात्व का प्रतिपादन व्यावहारिक जगत् की विवशता है।

[1] रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृ. 69

आचार्य शंकर जहाँ मायोपहित ब्रह्म को ईश्वर कहते हैं वहीं अविद्या की उपाधि से उपहित ब्रह्म को जीव कहते हैं। अन्तर यह है कि जहा ईश्वर मायाधीश है वहीं जीव मायाधीन है। इस सम्बन्ध में आचार्य शंकर व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टि से भेद करते हुए जीव की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करते हैं।

श्री रामकृष्ण देव की जीव–सम्बन्धी धारणा उनके भक्ति–विषयक विभिन्न भावों से अनुपूरित है। दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि समस्त भावों में जीव की ईश्वर से पृथकता अपेक्षित है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी वेदान्त साधना के पश्चात् वे भी ब्रह्म और जीव के यथार्थ स्वरूप की परस्पर अभिन्नता पर अधिक बल देने लगे। इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि श्री ठाकुर आजन्म मां काली के आराधक और कृपापात्र रहे, इसलिए जीव–ब्रह्म में तात्विक अभेद स्वीकार करते हुए भी वे अपने अद्वैत भाव को द्वैत की छाया से सर्वथा मुक्त नहीं रख सके हैं। विशेष रूप से अवतारवाद की चर्चा करते हुए वे ब्रह्म–जीव के बीच शक्ति तारतम्य की ओर संकेत करते हैं और इस तरह कभी–कभी विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के निकट पहुंच जाते हैं। अवतारवाद के सन्दर्भ में वे एक दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार एक ही मिट्टी से एक चूल्हा और एक हाथी दोनों बने हैं तथापि उन दोनों में रूपाकार और शक्ति की दृष्टि से अन्तर तो है ही और इस तथ्य को स्वीकार करते हुए वे कहते भी हैं कि उक्त दृष्टान्त वेदान्त की दृष्टि से नहीं है।

स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि सदैव जीव के यथार्थ स्वरूप अर्थात् सभी दुर्बलताओं और भय से मुक्त उसकी ब्रह्मरूपता में लगी रही। **उनका जीव–विषयक सिद्धान्त दर्शनशास्त्र की परम्परागत रुढ़ मान्यताओं से कहीं अधिक मनुष्य निर्माणपरक था।** उनके अनुसार उपनिषदों का

प्रत्येक पृष्ठ हमें अभय का पाठ पढाता है। अपने उद्‌बोधनों में वह बारम्बार उद्‌घोषणा करते हैं कि **"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"** मनुष्य निर्माण ही उनका ध्येय था और इसी उद्‌देश्य की पूर्ति के लिए वे जीव को समस्त का पुरुषता, दुर्बलता और बन्धनों से अलग कर उसकी अपनी महिमा में प्रतिष्ठित करते हैं। उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध उक्ति है कि **"प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है।** बाह्य एवं अन्तः प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरमलक्ष्य है। कर्म, उपासना, मनःसंयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ।"

8

अद्वैत वेदान्तिक बंधन और मुक्ति (मोक्ष) की अवधारणा -

1. भारतीय दर्शन में बन्धन और मोक्ष
2. अद्वैत वेदान्तिक दर्शन में बन्धन और मोक्ष
3. श्री रामकृष्ण के अनुसार बन्धन और मोक्ष
4. विवेकानन्द के अनुसार बन्धन और मोक्ष
5. श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द के बन्धन और मोक्ष सम्बन्धी विचारों की समीक्षा

अद्वैत वेदान्तिक बन्धन और मुक्ति (मोक्ष) की अवधारणा

(1) भारतीय दर्शन में बन्धन ओर मोक्ष –

भारतीय दर्शन 'मोक्ष' से कम किसी मूल्य को जीवन का परम शुभ स्वीकार करने को तैयार नहीं है। पाश्चात्य दार्शनिकों का चरम लक्ष्य नैतिक और सामाजिक मूल्यों को प्राप्त करना ही रहा है। भारतीय दार्शनिकों के अनुसार नैतिक और सामाजिक मूल्य सर्वोच्च लक्ष्य नहीं है वरन् ये सर्वोच्च लक्ष्य (साध्य) की प्राप्ति हेतु साधन ही हैं। **प्रो० जीमर** ने कहा है कि– पाश्चात्य विचारधारा, चाहे वह ग्रीक प्रत्ययवाद हो या आधुनिक ईसाई मत– इनकी प्रमुख अभिरूचि 'मानवता' (पूर्ण मानव और पूर्ण मानव समाज का स्वरूप) ही रही है; जबकि भारत के सन्त और महात्माओं के लिए मानवता से ऊपर उठना समस्त साधनाओं का फल है। **प्रो० हिरियन्ना** के अनुसार, "भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति के कर्तव्य मानव–समाज तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि वास्तव में सम्पूर्ण चेतन–सृष्टि के अन्दर फैले हुए हैं।" **'अपने पड़ोसी के साथ आत्मवत् प्रेम करो'** इस सामान्य उपदेश के साथ यह **'और प्रत्येक प्राणी तुम्हारे पड़ोसी हैं'**, यह भी जोड देता है।[1]

यह जगत् नश्वर है ओर अनेकानेक दुःखों से भरापूरा है। जीव अनेक बन्धनों से जकड़ा हुआ है। भारतीय दर्शनो का मुख्य उद्देश्य बन्धनों से जीव को मुक्त करना है। भारतीय दार्शनिकों ने बन्धन के

[1] एम0 हिरियन्ना – भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ0 20

स्वरूप पर प्रकाश डाला है और अधिकांश का मत है कि अज्ञानता या अविद्या ही बन्धन है। **अविद्या की निवृत्ति होना ही 'मोक्ष' है।** मोक्ष अपुनर्भव है जो जन्म-मरण के चक्र से रहित है। यह आत्मा का साक्षात् ज्ञान है। इस अवस्था में समस्त शोक-मोह दूर हो जाते हैं, समस्त संशय विनष्ट हो जाते हैं, समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं, समस्त बन्धन मिट जाते हैं। मोक्ष अभावात्मक या निषेधात्मक नहीं है। उपनिषदों में इसे **'रसो वै सः'**[1] कहा गया है।

भारतीय दर्शन का उद्देश्य पुरुषार्थ (मूल्यों) को प्राप्त करना है। पुरुषार्थ चार हैं- 'धर्म', 'अर्थ', 'काम' और 'मोक्ष'। यहाँ चौथा पुरुषार्थ साध्य है। अर्थ और काम को एक साथ (साधन साध्य के रूप में) तथा धर्म और मोक्ष को एक साथ रखा जाता है। धर्म साधन है और 'मोक्ष' साध्य है। 'चार्वाक सिर्फ अर्थ और काम को ही पुरुषार्थ मानता है। उसके अनुसार 'काम' ही साध्य है, अर्थ साधन है। लेकिन चार्वाक को छोडकर प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने चारों पुरुषार्थों को माना है और 'मोक्ष' को ही सर्वोच्च पुरुषार्थ स्वीकार किया है। 'मोक्ष' के स्वरूप, इसकी प्राप्ति के साधन आदि के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों में भले ही मतभेद हो, लेकिन सभी को 'मोक्ष' में आस्था है और वे इसे प्राप्त करने के लिए कृतसंकल्प हैं। इसी कारण भारतीय दर्शन को **'मोक्ष-शास्त्र'** भी कहा गया है। भारतीय दर्शन के इसी कृतसंकल्पता से प्रभावित वैदिक पाश्चात्य विद्वान **मैक्समूलर** ने कहा था- "भारत में दर्शन ज्ञान के लिए नहीं, बल्कि सर्वोच्च लक्ष्य के लिए था जिसके लिए मनुष्य इस जीवन में प्रयत्नशील रह सकता है।"[2]

[1] तैत्तिरीय उपनिषद् 2/7

[2] Max Muller · Six System of Indoan philasophy, p 370

बन्धन और मोक्ष के संदर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। जैसे –

(1) क्या इस जगत् में रहते हुए मुक्ति प्राप्त हो सकती है?

(2) क्या देह से युक्त रहते हुए भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है?

(3) क्या देह के त्याग के बाद ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है?

(4) क्या मोक्ष ईश्वर के साथ आत्मा का संयोग और सम्पर्क है या भौतिक जगत् से जीवात्मा का भेद या बिलगाव है?

(2) अद्वैत वेदान्तिक दर्शन में बन्धन और मोक्ष–

अद्वैत वेदान्तियों के मतानुसार आत्मा का शरीर और मन में अपनेपन का सम्बन्ध होना बन्धन है। **आत्मा का शरीर के साथ आसक्त हो जाना ही बन्धन है।** आत्मा शरीर से भिन्न है फिर भी वह शरीर की अनुभूतियों को निजी अनुभूतियां समझने लगती है। अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार मुक्ति की अवस्था आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है। अर्थात् उसका निजी स्वरूप है। पूर्णत्व स्वयं आत्मा में निहित है। अविद्या को नष्ट करने वाला ज्ञान आत्मा के स्वरूप लाभ में सहायक होता है। तात्पर्य यह है कि मोक्ष का अर्थ ईश्वर का सम्पर्क अथवा ईश्वर के आनन्द में आनन्दित होना नहीं है।

अद्वैत वेदान्ती इस बात से सहमत हैं कि मोक्षावस्था, पूर्ण ज्ञान की अवस्था है। **रामकृष्ण एवं विवेकानन्द के अद्वैतवाद में आत्मज्ञान ही मोक्ष है।** उपनिषदों में भी कहा गया है कि **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'।** शंकर के अनुसार जीव का ब्रह्मरूप होना ही मोक्ष है। सांख्य की भाँति अद्वैत वेदान्ती भी आत्मा के बन्धन को वास्तविक न मानकर आभासी मानते हैं। इसलिए मोक्ष आत्मा का नित्य स्वरूप है। अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार मोक्ष उत्पाद्य नहीं है क्योंकि उत्पन्न होने वाली वस्तु दूषित व

अनित्य होती है जबकि मोक्ष विशुद्ध चैतन्य स्वरूप शाश्वत् सत्य की चिरन्तन अनुभूति है। नित्य होने के कारण आत्मा या ब्रह्म में विकार की सम्भावना नही होती। अतः मोक्ष अनिवार्य है। वह संस्कार्य भी नहीं है क्योंकि आत्मा आप्तकाम, शुद्ध–बुद्ध एवं नित्य मुक्त स्वभाव है। अतः इसे किस प्रकार संस्कार की आवश्यकता है? मोक्ष प्राप्य नहीं है क्योंकि वह किसी भावान्तर की प्राप्ति नहीं है। शंकर ने अपने शरीरक भाष्य में मोक्ष के स्वरूप का इस प्रकार वर्णन किया है–

"इदमं तु पारमार्थिकं कूटस्थ नित्यं व्योमवत् सर्वव्यापी, सर्वविक्रिरहितं नित्यतृप्तं तदेतत् अशरीरत्वं मोक्षाख्यम्"।

उपनिषदों में कहा गया है कि अविद्या के कारण अहंकार उत्पन्न होता है। यह अहंकार ही जीवों को बन्धनग्रस्त कर देता है। इसके प्रभाव में जीव इन्द्रियां, मन, बुद्धि अथवा शरीर से तादात्म्य करने लगता है। बन्धन की अवस्था में जीव को ब्रह्म, आत्मा, जगत् के वास्तविक स्वरूप का अज्ञान रहता है। इस अज्ञान के फलस्वरूप वह अवास्तविक एवं क्षणिक पदार्थ को वास्तविक तथा यथार्थ समझने लगता है।

विद्या से ही मोक्ष संभव है क्योंकि अहंकार का विनाश विद्या से ही संभव है। विद्या के विकास के लिए उपनिषद् में नैतिक अनुशासन पर बल दिया गया है। जीव और ब्रह्म की अद्वैतता ही मोक्ष है। जिस प्रकार नदी समुद्र में मिलकर एक हो जाती है उसी प्रकार जीव ब्रह्म में मिलकर एक हो जाता है।

आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा मूलतः नित्य, मुक्त, विशुद्ध चैतन्य एवं अन वर है। जब यह अपने को शरीर, मन या इन्द्रिय से एकाकार कर लेती है, तब यह बन्धन–ग्रस्त हो जाती है। आत्मा न तो शरीर है, न मन है, न ज्ञानेन्द्रिय है, न कर्मेन्द्रिय। अज्ञानवश व्यक्ति जब अपनी आत्मा

को इनसे अभिन्न समझने लगता है तब वह बन्धन में जकड़ जाता है। वह शरीर, मन एवं इन्द्रियों के सुख–दुःख को अपना सुख–दुःख समझकर सदैव व्याकुल रहा करता है।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि आत्मतत्त्व सचमुच शरीर, मन और इन्द्रिय से भिन्न है, तो फिर यह शरीर, मन एवं इन्द्रियों के दुःख से स्वयं क्यों दुःखी हो जाता है? तो, इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार कोई पिता अपनी संतानों के सुख–दुःख को मोहवश अपना सुख–दुःख समझ लेता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञानवश शरीर, मन और इन्द्रियों के सुख–दुःख को अपना ही सुख–दुःख मान लेता है। यही बन्धन का कारण है।

अज्ञान के वशीभूत जीव अपना वास्तविक स्वरूप भूल जाता है और मोहवश शरीरेन्द्रियादि तथा उनके धर्मों से तादात्म्य स्वीकार कर उनके धर्मों को स्वयं पर आरोपित कर सुख तथा दुःख का अनुभव करता है। वेदान्त के अनुसार न तो आत्मा का जीव भाव वास्तविक है न ही उसका कर्तृत्व भोक्तृत्व। भ्रमवश वह प्रकृति या माया के कर्तृत्व को स्वयं पर आरोपित कर लेता है तथा स्वयं को कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता समझने लगता है। इस आरोपित भोक्तृत्व के कारण जीव को पुण्यपापात्मक कर्मों के भोग के लिए विभिन्न योनियों में संचरण करना पड़ता है। जन्म और फिर मृत्यु– इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है, तब तक जब तक कि आत्मलाभ अर्थात् आत्मस्वरूप का ज्ञान न हो जाए । यह जन्म–मरण का चक्र ही संसार है, बन्धन है।

कर्मबन्धन ही संसार का मूल है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं– **'संचित', 'प्रारब्ध' और 'क्रियमाण'।** संचित वे कर्म हैं जिनका फलभोग अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है, प्रारब्ध वे कर्म हैं जिन्होंने फल देना प्रारम्भ

कर दिया है तथा क्रियमाण वे कर्म हैं जो वर्तमान में सम्पन्न हो रहे हैं तथा आगे चलकर जिनका फल मिलेगा। इनमें से क्रियमाण और संचित कर्म ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं किन्तु प्रारब्ध का नाश भोग द्वारा ही होता है। जीव इन्हीं कर्मों के पाश में बँधकर नाना प्रकार के कष्ट झेलता रहता है। यही बन्धन है।

(3) श्री रामकृष्ण के अनुसार बन्धन और मोक्ष–

रामकृष्ण परमहंस जब बन्धन और मुक्ति के सम्बन्ध में चर्चा करते हैं तो वे कहते हैं कि बन्धन और मुक्ति इन दोनों के कर्त्ता ईश्वर ही हैं। अब इस बात पर विचार करने से हमारे मन में प्रश्न उठता है कि उन्होंने फिर दोष की सृष्टि क्यों की? बन्धन की सृष्टि वे नहीं भी तो कर सकते थे। इसके उत्तर में परमहंस देव कहते हैं कि ऐसा होने से 'दाई' का खेल नहीं चलता। उसका खेल चलता रहे इसके लिए अच्छे के साथ बुरे को भी रखना पड़ेगा। वे कहते हैं– सभी यदि दाई को छूकर बैठ जाएं, तो खेल चले कैसे? पर हाँ, यदि कोई खेलते–खेलते थक जाए, तो दाई स्वयं अपना हाथ उसकी ओर बढ़ा देती है। 'ईसप' की कहानियों में मेढ़कों ने लडकों से कहा था– 'तुम्हारे लिए तो यह खेल है, पर हम तो मरे जा रहे हैं। इसके उत्तर में परमहंस देव **'वचनामृत'** में अनेक स्थानों में कह चुके हैं कि तुम लोग जो 'हम लोग मरे जा रहे हैं' कहते हो, वह 'हम लोग' कौन है? ईश्वर को छोड़कर क्या और कोई है? यदि वे स्वयं कभी अपनी आँखों में पट्टी बाँधकर, तो कभी आँखों को खोलकर चक्कर लगाते रहें, तो इससे भला दूसरे पर क्या अत्याचार करना हुआ? परमहंस देव कहते है कि 'हे राम, तुमने अपनी दुर्दशा स्वयं की है।' जहाँ वे बन्धन में रहते हैं, वहाँ वे स्वयं कष्ट भोग रहे हैं।[1]

[1] श्री रामकृष्णवचनामृत, पृ० 98

यहाँ प्रश्न उठता है कि इस प्रकार अपने लिए कष्ट को स्वयं बुला लाना तो मूर्ख भी नहीं करता। इसका उत्तर यह है कि मूर्ख की भी बुद्धि क्या उन्हीं की नहीं है? वे उस बुद्धि का प्रयोग नहीं करते। उनकी जो बुद्धि है, वह हमारी बुद्धि के लिए अगोचर है। न समझ सकने के कारण कहते हैं– यह उनकी लीला है, तथा इस लीला के साथ छोटे–छोटे लड़के–लड़कियों के खेल की तुलना करते हुए कहते हैं –'लोकवत् तु लीलाकैवल्यम्'। जैसे छोटे–छोटे लडके–लडकियाँ खेलने के लिए घर बनाते हैं, बिगाड़ते हैं और पुनः बनाते हैं, ठीक इसी प्रकार वे जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय करते हैं। वस्तुतः उन्हें छोड़कर और दूसरा कोई नहीं है। **'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा'** – इस जगत् में मैं अकेला हूँ; मुझे छोड़ और दूसरा कौन है? अतः उन्हें छोड़कर जब और कोई नहीं है, तब किसी को तो वे बद्ध कर रहे हैं और किसी को मुक्त, ऐसा तो नही होता ।

अब यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि इस बन्धन से मुक्ति का उपाय क्या हो सकता है? तो, इसके उत्तर में परमहंस देव जी कहते हैं कि बन्धन यदि हमें पसन्द न हो, तो उसका भी उपाय है। यदि हम हृदय से कातर होकर प्रार्थना करें, तो वे हमें इस बन्धन से मुक्त कर देते हैं। किन्तु उन्होंने ऐसी विविधता की रचना क्यों की है, इस प्रश्न के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। हम तो इतना ही सोच सकते हैं कि इस सृष्टि में तुम्हारा खेल जैसा भी हो, तुम हमें रिहाई दो। ऐसा होने से हो सकता है, वे मुक्ति देने में संकोच न करें; लेकिन उनसे यह प्रश्न करना नहीं बनता कि क्यों उन्होंने ऐसी सृष्टि रची है? यह उनकी मौज है। इसीलिए उनको कहा गया है– 'इच्छामयी', 'मौजी'। उनकी जैसी इच्छा होगी, वे वैसा ही करेंगी, हमारे सिद्धान्तों के लिए नहीं रुकेगी। हमें यदि बन्धन असह्य हो रहा हो, तो उससे मुक्ति का उपाय खोजना होगा। उस उपाय

के सम्बन्ध में भी उन्होंने ही व्यवस्था कर रखी है। किन्तु, क्या हम उस उपाय को लेना चाहते हैं? यहाँ पर कहा गया है कि इस संसार की सृष्टि करने के पश्चात् वे कह रही हैं, ''जाओ बेटे, अब जाकर खेलो।'' अब हमें खेल पसन्द है तो हर्ज क्या है? जब खिलौना अच्छा नहीं लगता, तब बालक कहता है, ''माँ के पास जाऊँगा।'' तब और कोई खिलौना उसे पकडकर नहीं रख सकता। यहाँ प्रश्न यह है कि क्या यह खेल ये सब खिलौने हमारे लिए असह्य हो गए हैं? यदि हो गए हैं, तो उसकी व्यवस्था है और वह व्यवस्था उन्होंने ही कर रखी है। परमहंस देव जी कहते हैं– **'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ्प यति नान्तरात्मन्।'** अर्थात् भगवान् ने समस्त इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर रचा है, इसलिए ये इन्द्रियाँ केवल बाहर की वस्तुओं को ही देखती और अनुभव करती हैं, अन्तरात्मा को नहीं। लेकिन इन लोगों में कोई विरला ही व्यक्ति 'आवृत्तचक्षु' होता है, जो बाहर की ओर से आँखें फेरकर अन्तरात्मा को देखता है। अतः दोनों ही हैं। माँ ने एक ओर जैसे मन से कह दिया है कि 'जा, तू विषयों का भोग कर; वैसे ही दूसरी ओर वे उसके लिए भी हाथ बढ़ा देती हैं, जो माँ के लिए व्याकुल हो जाता है।[1]

अब यहाँ पर प्रश्न यह है कि क्या वैसी व्याकुलता हममें है? हम क्या फिर से उनकी गोद में लौट जाना चाहते हैं? अनेक बार हम सोचते हैं कि हम यह चाहेंगे कैसे? उन्होंने क्या हमें उस अमृत का स्वाद दिया है? उस स्वाद से वंचित कर रखा है, इसीलिए तो हम विषय के प्रति आकर्षण का अनुभव करते हैं। विषय के प्रति इतना आकर्षण है तभी तो उनके प्रेम का स्वाद हम नही पाते। हम सोचते हैं कि हमारे लिए करने को कुछ नहीं है, जो करना हो वह वे ही करें। **'देवीसूक्त'** में है– 'यं

[1] श्री रामकृष्णवचनामृत प्रसंग, पृ० ८९

कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तं ऋषिं तं सुमेधाम्'– मैं जिसे चाहती हूँ उसे बड़ा करती हूँ, फिर जिसे चाहती हूँ अधोगामी बना देती हूँ। शास्त्र कहते हैं– **'तमेव साधु कर्म कारयति यम् ऊर्ध्व निनीषति'** – जिसे वे (ईश्वर) ऊँचा उठाएँगे उससे शुभ कर्म कराते हैं; और **'तमेव असाधु कर्म कारयति यम् अधोनिनीशति'** – जिसे अधोगामी बनाएगें उससे अशुभ कर्म कराते हैं। परमहंस देव जी कहते हैं यदि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म वे ही कराते हैं, तो उसमें हमारा क्या दोष? कोई दोष नहीं है, केवल एक बात को छोड़कर और वह यह कि हम यह न सोचें कि मैं कर रहा हूँ । **कर्त्तृत्व का परित्याग ही मोक्ष की साधना है** क्योंकि कर्त्तृत्व के परित्याग से भोक्तृत्त्व स्वयं घट जाता है। कर्त्तृत्व और भोक्तृत्त्व छूटने से संसरण समाप्त हो जाता है।

(4) — विवेकानन्द के अनुसार बन्धन और मोक्ष–

स्वामी विवेकानन्द की मोक्ष सम्बन्धी धारणा में अद्वैत वेदान्त से सर्वथा अनुकूलता है। आचार्य शंकर के समान ही वे भी मोक्ष को न तो संस्कार्य मानते हैं और न ही प्राप्य। कोई भी बाहरी कार्य मोक्ष को प्रभावित नही कर सकता। आत्मा पर किसी भी पदार्थ की प्रतिक्रिया से तात्पर्य यह होगा आत्मा मुक्तस्वरूप नहीं है।[1] यदि आत्मा को मोक्ष प्राप्त हो सकता है तो इसका तात्पर्य है आत्मा मुक्तस्वरूप है।[2] जो आत्मा कार्य–कारण से परे है उस पर किसी कार्य का प्रभाव कैसे पड सकता है?[3] मोक्ष आत्मा का गुण भी नहीं है। जैसे चकमक पत्थर में रहने वाली अग्नि उसका स्वभाव है, गुण नहीं।[4] गुण उपार्जित किया जाता है और

[1] श्री रामकृष्णवचनामृत प्रसंग, पृ0 100
[2] वही पृ0 196
[3] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड–2, पृ0 196
[4] वही, पृ0 193

नष्ट हो जाता है पर आत्मा का स्वभाव ऐसा नहीं है। आत्मा को बद्ध करने वाला कोई पदार्थ नहीं है।[1] यदि ऐसा सम्भव हो सके तो आत्मा का स्वातंत्र्य कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार मोक्ष को प्राप्य[2] भी नहीं कह सकते। जिसने कभी स्वराज्य को खोया ही नहीं, उसे पुनः उसको प्राप्त करने की क्या आवश्यकता है? यह जो बद्धावस्था प्रतीत हो रही है– यह भ्रान्ति है,[3] सत्य नहीं। परमार्थतः आत्मा शुद्ध, बद्ध एवं मुक्त स्वभाव है।[4]

स्वामी जी कहते हैं आत्मा शरीर नहीं, शरीर का स्वामी या शरीरी है, इन्द्रिय नहीं इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। यह देह नहीं, देह में स्थित देव है। यह जड़ नहीं चेतन है। यह भौतिक नहीं, अभौतिक तत्त्व है। शरीर इन्द्रिय, मन आदि के द्वारा यह ससीम और सान्त दृष्टिगोचर होता है, परन्तु तत्त्वतः यह असीम और अनन्त है। शरीर से संयोग ही आत्मा का बन्धन है और शरीर से वियोग ही इस बन्धन का विनाश या अमरत्व की उपलब्धि है। इस उपलब्धि को ही अन्तिम उद्देश्य कहा गया है। अमरत्व को प्राप्त करने के पश्चात् कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। अतः अमरत्व ही अन्तिम लाभ, परम प्राप्य, अशेष लाभ माना जाता है।

स्वामी जी के अनुसार 'अमरत्व' के दो अर्थ हैं– **अभावात्मकष्टौर भावात्मक। अभावात्मकष्टर्थ में अमरत्व 'मृत्यु का अभाव' है और भावात्मकष्टर्थ में अमरत्व स्वतंत्रता की प्राप्ति है।** साधारणतः हम समझते हैं कि मृत्यु हमारे जीवन का अन्त है। जब हमारी मृत्यु होती है तो जीवन समाप्त हो जाता है, परन्तु मृत्यु से जीवन सर्वदा समाप्त नहीं

[1] वही, पृ0 196
[2] वही, पृ0 195
[3] वही, पृ0 197
[4] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द खण्ड–6 पृ0 33

होता। जीवन–मृत्यु तो एक ही सत्य के दो स्वरूप हैं, अविच्छिन्न अंग हैं। जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु होती है तथा जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म भी अवश्य होता है। अतः जन्म और मृत्यु को अलग नहीं किया जा सकता। इसीलिए इन्हें एक ही सत्य के दो पार्श्वों के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। हम जन्म लेते हैं मरने के लिए और मरते हैं जन्म लेने के लिए। परन्तु जिस समय हमारी मृत्यु होती है, उस समय हम समझते हैं कि हमारा जीवन समाप्त हो गया अर्थात् मरण जीवन का अन्त प्रतीत होता है। वस्तुतः यह अन्त नये जन्म का आरम्भ है। इस प्रकार जन्म और मरण का चक्र अनवरत चलता रहता है। हम मरकर पुनः जन्म लेते हैं। यही पुनर्जन्म है। इसे बन्धन कहते हैं, क्योंकि इसके द्वारा ही आत्मा का शरीर के साथ पुनः संयोग स्थापित हो जाता है। **आत्मा और शरीर का संयोग ही बन्धन है तथा इस बन्धन का विच्छेद ही अमरता है।** इस प्रकार अभावात्मकअर्थ में अमरता मृत्यु का अभाव, पुनर्जन्म का अभाव है। संक्षेप में यह जन्म–मरण के अनवरत चक्र का अभाव है।

यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि यह बन्धन क्यों और कैसे होता है? इसका उत्तर है कि 'बन्धन कर्मजन्य है।' हम कर्म करते हैं, फलभोगते हैं। कर्म और फल की अनवरत धारा चलती रहती है। कर्म एक ओर कारण है तो दूसरी ओर कार्य। यह बीज और वृक्ष दोनों है। हमारे कर्म का एक पूर्व क्षण है जिसे कारण कहते हैं तथा इसका उत्तर क्षण है जिसे कार्य कहते हैं। बीज और वृक्ष के समान कारण और कार्य सदा एक साथ रहते हैं। अकारण कोई कार्य नहीं होता अर्थात् कार्य सर्वदा सकारण ही होता है। कारण निष्फल नहीं होता अर्थात् कारण सर्वदा सफल होता है कर्म में सकारणता और सफलता दोनों समाहित है। कर्म का इस प्रकार सकारण और सफल होना भूत, वर्तमान और भविष्य का नियामक है।

भूत में कर्म के कारण हमें वर्तमान शरीर (कार्य) प्राप्त हुआ है और वर्तमान में कर्म के कारण पुनर्जन्म होगा। इस कर्म पुनर्जन्म का विनाश ही अमरत्व की अनुभूति है। जब आवागमन का चक्र अवरुद्ध हो जाता है तो सभी क्लेश शान्त हो जाते हैं। यही अमृतत्व की प्राप्ति या अमरत्व की अनुभूति है। इस अमृतत्व को प्राप्त करने वाले के लिए कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। अतः यह अशेष लाभ या परम लाभ है।

(5) श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द के बन्धन और मोक्ष सम्बन्धी विचारों की समीक्षा–

अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार मोक्ष ब्रह्म साक्षात्कार की चरम् अवस्था है। इस प्रशान्त स्थिति का **ईशोवास्योपनिषद्** की पदावली में सुन्दर चित्रण किया गया है– **''तत्र को मोहः को शोकः एकत्वमनुप यति''** अर्थात् मोक्ष में कैसा मोह, कैसा शोक। तात्पर्य यह है मोक्ष में सारे भेद, सारे द्वैत समाप्त हो जाते हैं। जीव अपने शुद्ध साक्षी रूप में स्थित हो जाता है– ''साक्षी चेत केवलो निगुर्णश्च''।

अद्वैत वेदान्त ब्रह्मैक्य पर बल देता है। उसका कहना है कि अपनेपन को त्याग कर ईश्वर में विलीन हो जाने में ही मनुष्य की पूर्ण आध्यात्मिक तुष्टि की अभिव्यक्ति होती है। रामकृष्ण–विवेकानन्द के अद्वैतवाद में भी मोक्ष की यही चरम स्थिति है। स्वामी जी की बन्ध मोक्ष धारणा तो शत–प्रतिशत अद्वैत परम्परा का ही अनुसरण करती है किन्तु ठाकुर अवश्य 'भक्तयनुप्रणित अद्वैत' की बात करते हैं– अर्थात् ऐसा अद्वैत जिसमें इतना द्वैत बना रहे कि भक्त और भगवान की धारणा के लिए अवकाश हो सके। मोक्षावस्था में श्री रामकृष्ण देव 'ब्रह्म–तादात्म्य' की अपेक्षा 'ब्रह्मानन्द रसास्वादन' को अधिक महत्व देते हैं। वे कहते हैं कि ''मैं चीनी नहीं बन जाना चाहता। मुझे चीनी खाना ही अच्छा जान पड़ता

है। मेरी यह इच्छा कभी नहीं होती कि मैं कहूँ– मैं ब्रह्म हूँ। मैं तो कहता हूँ कि तुम भगवान् हो और मैं तुम्हारा दास हूँ।"[1]

स्वतंत्रता और बन्धन दोनों विरोधी सत्य हैं। इनमें एक को यदि सत्य स्वीकार किया जाय तो दूसरे को अवश्य असत्य स्वीकार करना होगा। स्वतंत्र होने का अर्थ है 'बन्धन विनाश' अथवा 'बन्धन से मुक्ति'। इसी प्रकार बन्धन का अर्थ परतंत्र होना है। परतंत्रता एक बन्धन है जो स्वतंत्रता का विरोधी है।

परन्तु, स्वामी विवेकानन्द की विशेषता यह है कि वे दोनों का समन्वय करते हैं, दोनों में सामंजस्य स्वीकार करते हैं। अतः स्वामी जी के अनुसार, एक की सत्यता से दूसरे की असत्यता सिद्ध नहीं होती । स्वामी जी मानव को पूर्णतः स्वतंत्र मानते हैं। तात्विक दृष्टि से मानव शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। परन्तु मानव का जीवन कर्मवाद के नियमों से संचालित होता है। कर्मवाद का नियम बतलाता है कि कर्म करने पर उसका फल निश्चित होता है अर्थात् कर्म सफल है। इसके साथ ही फल बिना कर्म किए नहीं मिल सकता। कर्म अकारण नहीं, यदि कारण है तो उसका कार्य या फल अव य मिलेगा। कर्मवाद के इन्हीं नियमों से हमारा सम्पूर्ण जीवन संचालित होता है। हम जैसा कार्य करते हैं, वैसा फल भी भोगते हैं। हमारे वर्तमान जीवन की सभी उपलब्धियाँ हमारे भूत कर्मों के परिणाम या फल है। अतः वर्तमान भूतजन्य है। परन्तु यह भविष्य का जनक भी है। हम वर्तमान जीवन में जैसा भी कर्म कर रहे हैं, वैसा ही फल हमें भविष्य में मिलेगा। इस प्रकार भूत, वर्तमान और भविष्य सभी एक ही श्रृंखला में आबद्ध हैं। यह श्रृंखला ही कर्म–बन्धन है। हमारा जीवन इस नियम से बँधा है।

[1] श्री रामकृष्णवचनामृत प्रसंग, पृ0 185

अब यहाँ पर प्रश्न यह है कि यदि हमारा जीवन किसी नियम के बन्धन में अर्थात् कर्म–नियम से आबद्ध है तो हम स्वतंत्र कैसे हैं? इसके उत्तर में स्वामी जी कहते हैं कि कर्मवाद का उपरोक्त नियम सत्य है। जीवन तथा जगत् की सभी घटनाएँ सकारण हैं अकारण नहीं तथा भविष्य का जीवन भी अकारण नहीं। कर्मवाद का यह नियम प्रमाणित करता है हम अपनी नियति के नियामक हैं हम अपने कर्मों के अनुसार अपने भविष्य की रचना कर सकते हैं। हम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हैं। वर्तमान में किया गया कार्य ही भविष्य का जनक होता है। अतः अपने भविष्य के निर्माण में हम स्वतंत्र है। हम जैसा चाहें कर्म कर सकते हैं तथा उसके अनुसार फलभोग सकते है। इस प्रकार कर्म का नियम तो अचेतन है। यह नियम यन्त्रवत चलता रहता है, इसमें कोई व्यवधान नही होता। परन्तु इस नियम के अनुसार कार्य करने में चेतन मानव स्वतंत्र है। कर्म का बन्धन तो पूर्व और उत्तर क्षणों का बन्धन है। इससे यही सिद्ध होता है कि इन दो क्षणों में एक को दूसरे की अपेक्षा है। परन्तु इस सापेक्षता को स्वीकार करने में मानव स्वतंत्र है। अतः स्पष्ट है कि कर्म के नियम में भूत और वर्तमान का बन्धन अव य है। परन्तु इस नियम के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता, मानव को है तथा अपने भविष्य को बनाने या बिगाड़ने हेतु वह स्वतंत्र है। इस प्रकार स्वतंत्र भविष्य निर्माण में कर्मवाद मानव का साधक है, बाधक नहीं ।

जहाँ तब बन्धन का कारण और उसे दूर करने का प्रश्न है तो, इसके विषय में उपनिषदों का कहना है कि बन्धन का मूल कारण आत्मा को अपने स्वरूप के विषय में– कि वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है– अज्ञान है। कहा भी गया है कि जो यहाँ भेद को देखता है, वह जीवन–मरण के

चक्र में पड़ता है।[1] यदि बन्धन का कारण अज्ञान है, तो यह बन्धन केवल तभी दूर हो सकता है जबकि यह अज्ञान दूर हो जाए । उपनिषदों में यह दृढ़तापूर्वक कहा गया है कि स्वयं के अज्ञान को दूर करने या ब्रह्म के ज्ञान को प्राप्त करने के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्त करने का और कोई रास्ता नहीं है।

शंकराचार्य कहते हैं कि बन्धन का मूल कारण जीव का स्वयं के स्वरूप के विषय में अज्ञान है। जीव स्वयं ब्रह्म है, परन्तु अनादि अविद्या (माया) के कारण वह इस तथ्य को भूल जाता है और स्वयं को मन, शरीर इन्द्रियाँ इत्यादि समझने लगता है। यही उसका अज्ञान है और इसी कारण वह स्वयं को बन्धन में पड़ा समझता है परन्तु जब यह दोषपूर्ण तादात्म्य समाप्त हो जाता है तो जीव यह अनुभव करता है कि वह तो अनादि काल से ब्रह्म ही था। अतः वह मुक्त था। इस प्रकार जीव का बन्धन केवल उसकी कल्पना में ही है। कहने का तात्पर्य यह कि जीव के बन्धन का कारण स्वयं उसके मन में ही है, कहीं बाहर नहीं। बन्धन मानसिक है, सत्तागत नहीं। अतः यह बन्धन भी केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है। पारमार्थिक दृष्टि से सत्य तो यह है कि जीव न कभी बन्धन में पड़ता है और न कभी मोक्ष को प्राप्त करता है। शंकर कहते हैं कि बन्धन और मोक्ष दोनों ही सम्प्रत्यय केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है।

श्री रामकृष्ण देव कहते हैं कि ईश्वर को हटाकर यह जो स्वयं का कर्तृत्वबोध है, यही विपत्ति का मूल है। यदि हम इस बात को सदा स्मरण रख सकते कि सब कुछ वे ही कर रहे हैं, तो और कोई चिन्ता ही नहीं रहती, हम जीवन्मुक्त हो जाते। जो अच्छा है उसमें तो हम अपना कर्तृव्य

कठो0 2.1.10

देखते हैं और जो बुरा है उसके लिए यदि कहें कि 'वे करा रहे हैं' तब तो यह मन के साथ छल करना है। यहाँ पर ठाकुर एक बड़े सुन्दर दृ टान्त से अपनी बात स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि– 'एक ब्राह्मण ने बहुत सुन्दर बाग लगाया। उस बाग में एक दिन एक गाय घुसकर सुन्दर–सुन्दर फूलों के पौधों को चर गई। यह देखकर ब्राह्मण क्रोध से आग–बबूला हो गया और उसने गाय को इतना मारा कि वह मर गई। तब गो हत्या का पाप ब्राह्मण के ऊपर चढ़ने आया। यह देखकर उसने कहा, "ठहरो, यह पाप मैंने नहीं किया है। हाथ के देवता इन्द्र है। अतएव गो हत्या इन्द्र ने ही की है, हाथ तो एक यन्त्र मात्र है।" तब गोहत्या का पाप इन्द्र के पास गया। इन्द्र ने सब सुनकर उस पाप को कुछ देर रुकने के लिए कहा और वे स्वयं एक बूढ़े ब्राह्मण के वेश में उस बगीचे में गए। बगीचे में जाकर वे बागवान की बड़ी प्रशंसा करने लगे। यह सुनकर ब्राह्मण बड़ा खुश हो गया । वह छद्मवेषी इन्द्र को घुमा–घुमाकर सब दिखाने लगा और बताने लगा कि कैसे उसने स्वयं यह सारा बाग लगाया है। वह उसका सारा श्रेय स्वयं लेने लगा। घूमते–घूमते वे दोनों अकस्मात् मरी हुई गाय के पास जा पहुँचे। चौंककर छद्मवे ी इन्द्र ने पूछा, "अरे, यह गोहत्या किसने की है?" तब ब्राह्मण निरुत्तर हो गया। अब तक तो वह 'मैंने किया है, मैंने किया है' कह रहा था, अतः अब कैसे कहे कि 'यह इन्द्र ने किया है!' इसीलिए वह चुप रह गया । तब इन्द्र ने अपना रूप धारण कर लिया और कहा, "वाह रे पाखण्डी! जितना अच्छा काम है, वह सब करने वाला तू और गोहत्या करने वाला इन्द्र?"

हमारी अवस्था भी ठीक इसी प्रकार की है। हम यदि पूरी तरह कर्तृत्वहीन होवें, तो शुभ और अशुभ किसी भी प्रकार के कर्म के फल के लिए हम उत्तरदायी नहीं होंगे। लेकिन जब अपने में हमें कर्त्तापन का, भोक्तापन का बोध होता है, तब अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के फल भी

हमें भोगने पड़ते हैं। अतः या तो यह सारा दायित्व हम पूरी तरह से अपने ऊपर लें या फिर सब कुछ उनके हाथ में छोड़ दें। बीच का कोई रास्ता नहीं है। सब जगह तो हम कर्त्ता बने रहें, और जहाँ असुविधा होती है वहाँ यह कहें कि भगवान् करते हैं– यह नहीं हो सकता। श्री रामकृष्ण देव जी कहते हैं कि हम कई बार सुनते हैं कि 'थोड़ा भगवान का नाम लेना चाहिए; पर वह भी यदि वे कराएँगें तो होगा।' पर खाने के समय तो कोई नहीं कहता कि वे खिलाएँगे तो खाएँगें! तब तो हमारी चेष्टा बनी रहती है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार भी मानव बन्धन का कारण 'निज स्वरूप का अज्ञान' है। **बन्धन अज्ञान में ही निहित है।** पुरुष या जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान रहता है। यही उसका बन्धन है। मोक्ष केवल उस अज्ञान से दूर होने और अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में निहित है। दूसरे, पुरुष या जीव नित्यमुक्त हैं; परन्तु उसे वह ज्ञान तब प्राप्त होता है जब उसका अज्ञान दूर हो जाता है। चूँकि बन्धन का कारण केवल हमारा अज्ञान है, और अज्ञान का निवास हमारे मन में है कहीं बाह्य जगत् में नहीं। अतः बन्धन की भी सत्ता केवल हमारे मन में ही है, कहीं बाह्य जगत् में नही है। अतः बन्धन को दूर करने और मोक्ष को प्राप्त करने में होने वाला परिवर्तन केवल ज्ञानगत है। अतः स्वामी जी के अनुसार बन्धन का दूर होना और मोक्ष की प्राप्ति व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य है। पारमार्थिक दृष्टि से तो जीव और पुरुष नित्यमुक्त ही है। अतः उनके बन्धन और पुनः मोक्ष का प्रश्न ही नही उठता।

आचार्य शंकर के अनुसार जिस प्रंकार रज्जु–सर्प भ्रम को ज्ञान से और केवल ज्ञान से ही दूर किया जा सकता है, और कर्म हमें इस भ्रम

को दूर करने में किंचित मात्र भी सहायक नहीं होता; उसी प्रकार मोक्ष भी, जो कि ब्रह्म–जगत् भ्रम को दूर करता है, ज्ञान से, और केवल ज्ञान से ही प्राप्त किया जा सकता है।

श्री रामकृष्ण देव कहते हैं कि "वे (माँ) लीलामयी हैं, यह संसार उनकी लीला है। वे इच्छामयी हैं। वे आनन्दमयी लाखों में से किसी एक को मुक्ति देती हैं।"[1] प्रश्न होता है कि वे तो सभी को मुक्ति दे सकती हैं, फिर क्यों नहीं देतीं? इसके उत्तर में श्री रामकृष्ण कहते हैं कि यह उनकी इच्छा है कि खेल चलता रहै। फिर जब खेल बन्द होगा, तब वह भी तो उन्हीं के करने से होगा।'

यहाँ पर एक मार्मिक प्रश्न यह है कि सब कुछ त्यागे बिना क्या ईश्वर को नहीं पाया जा सकता? क्या वे हमारी पकड़ से बाहर ही रहेंगे? इसके उत्तर में रामकृष्ण देव कहते हैं कि "तुम्हें भला सब त्याग क्यों करना होगा? तुम रस में डूबे हुए ठीक ही हो। दानेदार भी और सिरका भी।" गुड़ की भेलियाँ होती हैं, किसी–किसी भेली में कुछ दानेदार गुड़ भी होता है, फिर कुछ सिरका गुड़ भी। उसी प्रकार तुम्हारा हाल है।[2] वे कहते हैं कि "मैं सच कहता हूँ, तुम लोग संसार करते हो इसमें दोष नहीं है।[3] पर ईश्वर में मन रखना होगा, इस सम्बन्ध में रामकृष्ण कोई समझौता नहीं करते। वे पुनः कहते हैं कि संसार करने में दोष नहीं है, दोष है संसार के प्रति आसक्ति रखने में, भगवान् को भूलकर संसार में डूबे रहने में।'

[1] श्री रामकृष्णवचनामृत प्रसंग, पृ0 101
[2] वही, पृ0 102
[3] वही, पृ0 102

यहाँ पर यह प्रश्न पुनः उठता है कि क्या सभी लोग भगवान् के दर्शन पा सकेंगे? तो इसके उत्तर में परमहंस जी कहते हैं कि "किसी को भी दिन भर भूखा नहीं रहना पड़ता। किसी को सबेरे नौ बजे, किसी को दोपहर के दो बजे, तो किसी को शाम के वक्त भोजन मिल जाता है। उसी प्रकार, जन्म–जन्मान्तर में किसी न किसी समय, इसी जन्म में या अनेक जन्मों के बाद, सभी को भगवान् के दर्शन प्राप्त होंगे।"[1] छोटा बच्चा घर में अकेले ही बैठे–बैठे खिलौने लेकर मनमाने खेल खेलता रहता है, उसके मन में कोई भय या चिन्ता नहीं होती। किन्तु जैसे ही उसकी माँ वहाँ आ जाती है वैसे ही वह सारे खिलौने छोड़कर 'माँ, माँ' कहते हुए उसकी ओर दौड़ जाता है। तुम लोग भी इस समय धन–मान–यश के खिलौने लेकर संसार में निश्चिन्त होकर सुख से खेल रहे हो, कोई भय या चिन्ता नहीं है। पर यदि तुम एक बार भी उस आनन्दमयी माँ को देख पाओ तो फिर तुम्हें धन–मान–यश नहीं भाएँगे, तब तुम सब फेंककर उन्हीं की ओर दौड़ जाओगे।"[2]

श्री रामकृष्ण देव ने ईश्वर प्राप्ति के लिए 'व्याकुलता,' 'विश्वास,' 'अनुराग' एवं 'प्रपत्ति' की भावना पर भी जोर दिया। "जितनी व्याकुलता मनुष्य को जल में डूबा देने पर होती है उतनी व्याकुलता मानव–मन में ईश्वर के दर्शन के लिए यदि होने लगे तब जानना चाहिए कि 'उषः काल' समीप है।"[3] विश्वास के महत्त्व को उन्होंने एक प्राचीन कथानक द्वारा व्यक्त किया है–"किसी मनुष्य को समुद्र पार कर लंका जाना था। विभीषण ने उसे एक वस्तु प्रदान कर कंहा, 'इसे कपडे के छोर में बाँध लो पर खोल कर मत देखना।' आधा मार्ग पार कर लेने पर उसने उस

[1] अमृतवाणी, पृ० 5–6

[2] वही, पृ० 6

[3] रामकृष्णवचनामृत (द्वितीयभाग) पृ० 620

वस्तु को खोलकर देख लिया। देखने पर ज्ञात हुआ कि उस पर केवल 'राम' शब्द ही लिखा है। वह मन में कहने लगा– 'अरे, बस यही उसका मन्त्र था?' यह कहते ही व्यक्ति डूब गया।[1] "गाय जब चुन–चुन कर घास–पत्ते खाती है तो कम दूध देती है। इसी प्रकार ईश्वर–विषयक सभी बातों पर विश्वास करने से शीघ्र ही प्रगति होगी।"[2] ईश्वर के प्रति अनुराग कैसा होना चाहिए, इस विषय में उनका यह कथन है– "माता का जो स्नेह पुत्र के प्रति होता है, पति–पत्नी का जो आकर्षण परस्पर होता है एवं विषयी का जो अनुराग विषय में होता है, यह तीनों स्नेह, अनुराग और आकर्षण का सम्मिश्रण जब ईश्वर के प्रति हो तभी वह दर्शन देगा।"[3]

श्री रामकृष्ण ने यज्ञादि शास्त्र–विहित अनु ठानों की आजीवन अनिवार्यता स्वीकार नहीं की। उनके मत से तभी तक पंखा चलाने की आवश्यकता है जब तक वायु नहीं चलती। इसी प्रकार यदि ईश्वर पर प्रीति उत्पन्न हो जाए तो इन कर्मों की भी आवश्यकता नहीं रह जाएगी।[4] उन्होंने मूर्तिपूजा की सार्थकता इस तर्क के साथ प्रस्तुत की है कि साधक को सदैव स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ना चाहिए। जिस प्रकार कोई बाण चलाने की अभ्यास कुशलता पाने के लिए पहले वक्ष पर निशान साधता है, इसके पश्चात् दीपक, पक्षी आदि पर लक्ष्य भेद करने का अभ्यास करता है, उसी प्रकार ईश्वर की प्राप्ति में पहले साकार–उपासना और तत्पश्चात् निराकार–चिन्तन होना चाहिए।[5] भक्त ईश्वर की कृपा के बिना

[1] रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृ0 66
[2] रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृ0 429
[3] वही, पृ0 133–134
[4] वही, पृ0 69
[5] वही, (द्वितीय भाग), पृ0 210

उसे प्राप्त नहीं कर सकता। ईश्वर की कृपा तो उस प्रकाशमय सूर्य के समान है जो वर्षों अन्धकार में पड़े जीवन को भी ज्योतिर्मय कर सकती है।[1]

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं आत्मा का अन्तिम उद्‌देश्य अमरत्व की अनुभूति या मोक्ष की प्राप्ति है। वस्तुतः यह अनुभूति किसी वस्तु या विषय का अनुभव नहीं, किसी वस्तु को प्राप्त करने का सुख नहीं है, अपितु यह तो अपने स्वरूप ज्ञान का सच्चा आनन्द है। जब व्यक्ति अपने यथार्थ शाश्वत रूप को जान लेता है और उसे अमृत्व या अमरत्व की अनुभूति की अनुभूति का आनन्द होता है। इसमें न तो कुछ पाना है और न खोना है। यह तो केवल अपने आपको जानना है। अतः अमरत्व की अनुभूति तो आत्मोपलब्धि है, आत्मा के अमृत स्वरूप का ज्ञान है। इसे स्वामी जी एक उपमा से स्पष्ट करते हैं। कोई व्यक्ति अपने गले में पडे हुए स्वर्णहार को इधर उधर खोजता है। विचार करने पर यह पता चलता है कि उसको प्राप्त करने के सभी प्रयास व्यर्थ हैं। स्वर्णहार तो उसके गले में ही लटक रहा है। इसे भूल जाने के कारण ही वह हैरान और परे ाान है। इसी प्रकार जब हम आत्मा के नित्यानन्द, शाश्वत सुखरूप का अनुभव करने लगते हैं। यही आत्मोपलब्धि है, जिसे 'अमरत्व की अनुभूति' कहते हैं। यदि इस विचार से देखा जाय तो मृत्यु से बढ़कर कोई दुःख नहीं है। संसार में भूख, प्यास, अभाव आदि से जन्य जितने दुःख हैं, सभी दुःख अन्तिम दुःख अर्थात् मरण–दुःख से कम ही है। मृत्यु तो जीवन का अन्त है। अतः मरण का दुःख तो अन्तिम दुःख है जो सबसे बढ़–चढ़कर है। मनुष्य को अपने कर्म के कारण भविष्य का शरीर

[1] रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग) पृ0 158, 188

या भविष्य जीवन (कर्म) प्राप्त होगा। भूत, वर्तमान और भविष्य का नियामक कर्म सिद्धांत ही है।

विवेकानन्द के अनुसार **हमें अद्वैत वेदान्तियों की, साधक को दिए गए उनके इस साहसपूर्ण वचन के लिए सराहना करनी चाहिए कि मोक्ष इसी जीवन में, इसी शरीर के रहते सम्भव है** और उसकी प्राप्ति के लिए हमें शरीर के पतन होने तक रुके रहने की आवश्यकता नही है। मोक्ष प्राप्त करने के लिए हमें केवल अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन की आवश्यकता है। हमें सर्वत्र ब्रह्म को ही देखना है। **('यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं मयिच पश्यति')** ऐसा कर पाना इस शरीर के रहते भी सम्भव है।

अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि मोक्ष इस जीवन में भी मिल सकता है और इस जीवन के बाद भी। मुक्ति के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त में एक प्रमुख विवाद यह है कि मुक्ति तात्कालिक होती है या क्रमिक। **'सद्योमुक्ति'** वह है जो ज्ञान के साथ ही प्राप्त हो जाती है इसे ही अद्वैत वेदान्ती वास्तविक मुक्ति कहते हैं। उनके अनुसार जिस क्षण ज्ञान मिलता है उसी क्षण जीव मुक्ति पा जाता है। **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'**। देवयान मार्ग पर चलने वाले मनुष्य जिस ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, उसे **'क्रमिक मुक्ति'** कहते हैं।

जीवन्मुक्ति या सदेह मुक्ति के सम्बन्ध में एक आपत्ति यह उठाई गई है कि जब मोक्ष अविद्या निवृत्ति है और शरीर अविद्या जनित है तो फिर जीवन्मुक्ति कैसे संभव है? इस समस्या का समाधान अद्वैत वेदान्ती **'अविद्यालेश सिद्धान्त'** से करते हैं। अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार तत्त्वज्ञान से संचीयमान कर्म का निवारण हो जाता है, किन्तु प्रारब्ध कर्मो का कुछ अंश उसी प्रकार बचा रहता है जिस प्रकार हींग के डिब्बे में धोने के बाद भी महक रहती है। प्रारब्ध कर्मो का उपभोग करने के बाद मुक्त जीव

शरीर का परित्याग उसी प्रकार अनुराग रहित होकर कर देता है जिस प्रकार साँप केंचुल का। तत्त्वज्ञान के पश्चात् मुक्त जीव को उसका शरीर उसी प्रकार प्रभावित नहीं करता, जिस प्रकार रज्जू का ज्ञान हो जाने पर रज्जु–सर्प को जानने वाला भयभीत नहीं होता।

अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार मोक्ष स्वयं का ब्रह्म से अभेद का ज्ञान है। यह आवश्यक नहीं कि ऐसा ज्ञान शरीर–त्याग करने के पश्चात् ही प्राप्त हो। आत्मज्ञान के स्वरूप में ऐसी कोई बात नहीं है कि उसके शरीर की उपस्थिति के साथ किसी प्रकार का विरोध हो। अद्वैत वेदान्तियों का तर्क यह है कि यदि जीवन्मुक्ति न होती, अर्थात् संसार में पूर्ण ज्ञानी लोग न होते, तो संसार का पथ–प्रदर्शन कौन करता? दूसरे, कोई अन्य व्यक्ति जीवन्मुक्ति के सम्प्रत्ययन का खण्डन कर भी कैसे सकता है?

श्री रामकृष्ण देव जीवन्मुक्ति में विश्वास करते थे। वे कहते हैं कि संसार में रहते हुए भी यदि कोई मनुष्य चाहे तो मोक्ष प्राप्त कर सकता है। लोहे की तलवार को पारस से स्पर्श कराने से वह सोने जैसी हो जाती है। उसकी आकृति तो वैसी ही रहती है, किन्तु उससे हिंसा का कार्य नहीं लिया जा सकता। इसी प्रकार भगवान् के पादपद्म स्पर्श करने पर मनुष्य से फिर कोई अन्याय नहीं हो सकता।[1] पुनः लोहा यदि एक बार पारस को छूकर सोना हो जाय तो उसे चाहे मिट्टी के भीतर दबाए रखिए, चाहे कूड़े में फेंक दीजिए, रहेगा वह सोना ही। जिन्होंने अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उनकी भी ऐसी भी अवस्था है। वे संसार में रहें या वन में रहें, उन्हें दोष स्पर्श नहीं कर सकता।'[2]

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश (हिन्दी अनु0), पृ0 97

[2] वही, पृ0 97

श्री रामकृष्ण देव कहते हैं कि संसार में पाँच प्रकार के सिद्ध पुरुष पाये जाते हैं: **स्वप्न, सिद्ध, मन्त्र-सिद्ध, हठात्-सिद्ध, कृपा-सिद्ध, और नित्य-सिद्ध**।

(1) **स्वप्न सिद्ध** – स्वप्न में कोई व्यक्ति इष्ट मंत्र पाकर उसी को जपकर सिद्ध हो जाते हैं।

(2) **मन्त्र-सिद्ध** – कुछ व्यक्ति किसी सद्गुरु से मंत्र ग्रहण कर अपनी साधना द्वारा सिद्ध हो जाते हैं।

(3) **हठात्-सिद्ध** – दैवयोग से किसी महापुरुष की कृपा लाभ कर जो सिद्ध होता है, उसे हठात् सिद्ध या **'दैव सिद्ध'** कहते हैं।

(4) **कृपा-सिद्ध** – कृपा सिद्ध पुरुष वे हैं जो ईश्वरीय कृपा द्वारा सिद्धि प्राप्त करते हैं।

(5) **नित्य-सिद्ध** – वे पुरुष हैं जिनकी बचपन से ही धर्म में गति होती है।

जिसकी जैसी भावना होती है, उसे सिद्धि भी वैसी ही मिलती है। ऐसा कहा जाता है कि चपड़ा नील भ्रमर का चिन्तन करते-करते स्वयं भी नील भ्रमर बन जाता है। इसी प्रकार जो सच्चिदानन्द का चिन्तन करता है, वह स्वयं आनन्दमय हो जाता है।

स्वामी विवेकानन्द भी जीवन्मुक्ति को स्वीकार करते हैं।[1] वे कहते हैं कि यदि जीव अपने को मुक्त समझ सके तो वह इसी क्षण मुक्त हो जाएगा। जीवन्मुक्ति की अवस्था को उन्हीं आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया जिन्होंने मुक्ति को सालोक्य, सारूप आदि रूपों से युक्त माना। परन्तु अद्वैत वेदान्त इस प्रकार की किसी भी मुक्ति के स्वरूप को स्वीकार नहीं

[1] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द (खण्ड-3), पृ० 11

करता। स्वामी जी सरल शैली में मुक्ति का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि शुभ या अशुभ कर्मों के बन्धन से रहित हो जाना ही मुक्ति है।[1] जीवन्मुक्ति विषयक शंका का समाधान करते हुए उन्होंने कहा है– "सत्य की उपलब्धि हो जाने पर तुरन्त मृत्यु नहीं हो जाती है। जब आत्मारूपी पहिया रुक जाता है तब आत्मा यह सोचना छोड़ देती है कि उसका आवागमन, जन्म–मृत्यु आदि सत्य है। परन्तु फिर भी शरीर और मन रूपी पहियों में पूर्व कर्मों का वेग बचा रहता है और जब तक वे नष्ट नहीं हो जाते तब तक शरीर और मन भी बने रहते हैं।"[2]

जिसने आत्म–ज्ञान या ब्रह्मज्ञान, या मोक्ष प्राप्त कर लिया है उसका फिर जन्म नही होता। जन्म ग्रहण करने का मूल कारण भव–तृष्णा या सांसारिक भोगों को भोगने की अतृप्त इच्छा है। जिस प्रकार सागर में मिलने पर विभिन्न नदियाँ अपना नाम और रूप खो देती हैं और सागर के साथ एक होकर स्वयं सागर बन जाती है, उसी प्रकार मुक्त जीव ब्रह्म में अपने नाम और रूप खो देता है और ब्रह्म के साथ एक होकर स्वयं 'ब्रह्म' बन जाता है। मोक्ष में व्यावहारिक जीवन के सभी भेद समाप्त हो जाते हैं। **बृहदारण्यक उपनिषद्** में कहा गया है कि मुक्त पुरुष सभी प्रकार के भयों से मुक्त होकर अभय हो जाता है। मुक्त पुरुष 'है' और 'चाहिए' के द्वैत से ऊपर उठ जाता है। 'है' और 'चाहिए' का द्वैत, जो कि नैतिक जीवन के मूल में हैं, मनुष्य को केवल तभी तक चिन्तित करता है– जब तक कि ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो जाता।

शंकराचार्य के अनुसार 'विदेह–मुक्ति' उसे कहते हैं जब व्यक्ति दोनों प्रकार के शरीरों स्थूल एवं सूक्ष्म से मुक्ति पा लेता है। ज्ञान से जीवात्मा

[1] वही, (खण्ड–5) पृ0 317

[2] कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, (खण्ड–2) पृ0 280–81

की सारी वासनाएँ नष्ट हो जाती है, संचित और क्रियमाण कर्म भी नष्ट जाते हैं। केवल प्रारब्ध कर्मों का भोग करना ही अवशिष्ट रह जाता है। ज्ञानी की वर्तमान देह भी प्रारब्ध जन्य होती है, यह देह बचे हुए प्रारब्ध कर्मों के भोग के लिए आवश्यक होती है, अतः जब तक भोग समाप्त नहीं होता ज्ञानी को भी देह धारण करनी पड़ती है। एक बार भोग समाप्त हो जाने पर उसे पुनः शरीर धारण करने और जन्म-मरण के चक्र में पड़ने की बाध्यता नहीं रहती। आत्मा का जीव भाव नष्ट हो जाता है तथा वह स्थूल सूक्ष्म और अज्ञानरूप कारण शरीर से भी मुक्त हो जाता है। यही विदेह मुक्ति है। इस अवस्था में व्यक्ति असीम आनन्द का अनुभव करता है और अपने ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

शंकराचार्य की भाँति श्री रामकृष्ण देव जीवनमुक्ति के साथ ही विदेह-मुक्ति को भी स्वीकार करते हैं। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि मुक्त पुरुष संसार में रहते कैसे हैं? उत्तर में परमहंस देव जी कहते हैं कि पनडुब्बी चिड़िया के समान, जो पानी में रहती तो है परन्तु उसके बदन पर पानी नहीं लगता। यदि कभी थोड़ा लगता भी है तो एक बार बदन झाड़ देने से तत्काल सारा पानी गिर पड़ता है।[1] इसी प्रकार मुक्त पुरुष की उपमा आँधी से उड़ी पत्तल से दी गई है। उसकी अपनी कोई इच्छा या अभिमान नहीं होता। हवा उसको उड़ाकर जिस ओर ले जाती है वह उसी ओर चली जाती है।[2] सिद्ध पुरुष संसार के आवागमन से मुक्त हो जाते हैं। धान बोने से अंकुर पैदा होता है, परन्तु उसी धान को सिद्ध करके (उबालकर) बोने से उससे अंकुर नहीं उगता। इसी प्रकार जो लोग सिद्ध हो गए हैं, उन्हें इस संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता।[3] हंस को दूध

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश (हिन्दी अनु0), पृ0 99

[2] वही, पृ0 103

[3] वही, पृ0 103

और पानी मिलाकर देने से जिस प्रकार वह दूध पीकर जल छोड़ देता है, उसी प्रकार मुक्त पुरुष संसार में सच्चिदानन्द को ग्रहण कर संसार को त्याग देते हैं।[1]

पहले अज्ञान रहता है, उसके बाद ज्ञान होता है। अन्त में जब सच्चिदानन्द का लाभ होता है, तब साधक ज्ञान और अज्ञान दोनों के पार चला जाता है। कैसे ? जैसे शरीर में काँटा चुभने पर कहीं से यत्नपूर्वक एक काँटा लाकर उस काँटे को निकालते हैं फिर दोनों काँटों को फेंक देते हैं। सिद्ध अवस्था द्वन्द्वातीत अवस्था है।[2] यह अद्वैत अवस्था है जो परमानन्द की स्थिति है।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि देह धारण की प्रक्रिया का सर्वदा तथा सर्वदा समाप्त हो जाना ही विदेह–मुक्ति है। यह शरीर का अन्तिम मरण है। पुनः शरीर धारण नही होता, क्योंकि सभी कर्म और संस्कार सबीज नष्ट हो जाते हैं। यह अवस्था वर्तमान शरीर के समाप्त होने पर ही सम्भव है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दो प्रकार की मुक्तियाँ नहीं हैं। मोक्ष में प्रकार भेद नहीं होता। शरीर के होने और न होने के आधार पर ही इन दो भेदों का कथन किया गया है। जिस मुक्त पुरुष का प्रारब्ध भोग शेष नहीं हुआ है और तदर्थ वह शरीर धारण किये हुए है वह जीवन्मुक्त है। जब वह भोग समाप्त हो जाता है और शरीरपात हो जाता है तो वही विदेहमुक्त कहलाने लगता है।

निष्कर्ष–

सारांशतः हम यह कह सकते है कि श्री रामकृष्ण देव के अनुसार बन्धन और मुक्ति, दोनों के कर्त्ता ईश्वर ही हैं। किन्तु तब, प्रश्न उठता है

[1] श्री रामकृष्ण उपदेश (हिन्दी अनु0), पृ0 104

[2] वही, पृ0 104

कि ईश्वर ने बन्धन की सृष्टि ही क्यों की? रामकृष्ण देव के अनुसार ऐसा न होने पर ईश्वर की क्रीड़ा नहीं हो पाती। उसकी क्रीड़ा के सुचारू रूप से चलने के लिए अच्छे के साथ बुरे और मुक्ति के साथ बंधन का रहना आवश्यक है। पुनः उनका कहना है कि इस 'क्यों' का वास्तविक अर्थों में कोई उत्तर नहीं है क्योंकि यह प्रश्न ही असंगत है। हम तो इतना ही सोच सकते हैं कि इस सृष्टि में उनका खेल जैसा भी हो, वे हमें रिहाई दें। इस रिहाई के लिए आवश्यक है कि वह खेल और उस खेल के खिलौने हमारे लिए असह्य हो जाय। ईश्वर ने एक ओर जैसे मन से कह दिया है कि 'जा, तू विषयों का भोग कर' वैसे ही दूसरी ओर वे उनके लिए भी हाथ बढ़ा देते हैं जो स्वयं उन्हीं के लिए व्याकुल हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में एक प्रश्न यह उठता है कि यदि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म, वे ही कराते हैं, तो उसमें हमारा क्या दोष? दोष तो कोई नहीं है, किन्तु तब जब हम यह न सोंचे कि कर्ता मैं स्वयं हूँ, अर्थात् कर्त्ता और भोक्ताभाव की समाप्ति पर ही यह स्थिति हो सकती है। कर्त्ता और भोक्ता भाव की समाप्ति हेतु व्याकुल होकर प्रार्थना करनी होगी, और प्रार्थना में व्याकुलता हेतु हृदय, मस्तिष्कऔर हाथों को क्रमशः उनके लिए ही भावना, चिंतन और कर्म करना होगा, तभी मन और मुख एक होगा जो मुक्ति का द्वार है। मुक्तावस्था में रामकृष्ण ब्रह्म तादात्म्य की अपेक्षा ब्रह्मानन्द रसास्वादन को अधिक महत्त्व देते हैं। वे जीवन–मुक्ति और विदेह मुक्ति, दोनों ही स्वीकार करते हैं।

स्वामी विवेकानन्द की मोक्ष–सम्बन्धी धारणा अद्वैत वेदांत के ही अनुकूल है। अतः शंकर के समान वे भी मोक्ष को न तो संस्कार्य मानते हैं और न ही प्राप्य। यह जो बद्धावस्था प्रतीत हो रही है, वह भ्रान्ति है, सत्य नहीं। परमार्थतः आत्मा शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव है। शरीर, इन्द्रिय, मन आदि के द्वारा यह ससीम और सान्त दृष्टिगोचर होता है।

परन्तु तत्त्वतः यह असीम और अनन्त है। बन्धन कर्मजन्य है। भूत में कर्म के कारण हमें वर्तमान शरीर प्राप्त हुआ है, और वर्तमान में कर्म के कारण पुनर्जन्म होगा। इस कर्म–पुनर्जन्म का विनाश ही अमरत्व की अनुभूति है। स्वामी जी के अनुसार अमरत्व के दो अर्थ हैं– अभावात्मक और भावात्मक। अभावात्मक अर्थ में अमरत्व मृत्यु का अभाव है, और भावात्मक अर्थ में यह स्वतंत्रता की प्राप्ति है। स्वतंत्रता का अर्थ है बंधन से मुक्ति। मोक्ष का तात्पर्य इस अज्ञान को दूर करना और अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना है। चूंकि बन्धन का कारण हमारा अज्ञान है और अज्ञान का निवास हमारे मन में हैं, कहीं बाह्य जगत् में नहीं है। अतः बन्धन की सत्ता भी केवल हमारे मन में ही है, बाह्य जगत् में नहीं । अतः बन्धन को दूर करने और मोक्ष को प्राप्त करने में होने वाला परिवर्तन केवल ज्ञानगत है। अतः बन्धन का दूर होना और मोक्ष की प्राप्ति व्यवहारिक दृष्टि से ही सत्य है, पारमार्थिक दृष्टि से तो जीव और पुरुष नित्य मुक्त ही हैं, अतः उनके बन्धन और पुनः मोक्ष का प्रश्न ही नही उठता।

९

उपसंहार एवं निष्कर्ष—

भावी शोध हेतु सुझाव
सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

तथापि स्वामी जी अद्वैत वेदान्त का ही प्रतिपादन करते थे। उनका विचार था कि **'माँ काली की कृपा से जीव असीम आत्मा एवम् ब्रह्मरूपता को प्राप्त होता है।'**[1] अद्वैतवाद का ही समर्थन करते हुए श्री रामकृष्ण देव, माया को ईश्वर की शक्ति के रूप में स्वीकार करते थे। जिस प्रकार कि शांकर वेदान्त के अनुसार ईश्वर माया से अस्पृष्ट एवं अप्रभावित रहता है, उसी प्रकार स्वामी जी के मतानुसार ईश्वर मायाबद्ध नहीं होता । इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए स्वामी जी ने कहा है कि 'जैसे सर्प जिसको काटता है, वह मर जाता है। साँप के मुँह में सर्वथा विष रहता है। साँप उसी मुँह से सदा खाता तथा निगलता रहता है, किन्तु वह स्वयं मरता नहीं है। इसी प्रकार माया भी दूसरों के लिए है न कि ईश्वर के लिए।'

स्वामी विवेकानन्द श्री रामकृष्ण के ही शिष्य थे। उन्होंने श्री रामकृष्ण देव के ही विचारों का विशेष रूप से प्रचार-प्रसार किया। **विवेकानन्द ने अद्वैत वेदान्त दर्शन को एक लोकोपयोगी एवं व्यावहारिक दर्शन का रूप दिया।** विवेकानन्द ने कहा है कि 'वे कोई नई बात नहीं कह रहे है। वे स्वयं को शंकराचार्य भी कहते थे।'

शांकर अद्वैतवाद की ही तरह विवेकानन्द भी एक अद्वैत तत्व की सत्यता में विश्वास करते थे। इसीलिए विवेकानन्द ने अद्वैतवादी दर्शन के अनुरूप मनुष्य एवं पशु में भेद नहीं किया है। अद्वैत वेदान्त की ही तरह विवेकानन्द द्वारा स्वीकृत अद्वैत तत्व ब्रह्म ही है। विवेकानन्द के विचारों के अनुसार एक ब्रह्म ही अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है। जगत् के अनेकरूपता के विषय में विवेकानन्द का विचार है कि नाम एवं रूप की सहायता से अज्ञान द्वारा सृष्टि जगत् में ही पत्नी, बालक शरीर एवं मन

[1] रोमाँ रोला, द लॉइफ ऑफ रामकृष्ण, पृ0 32

के भेद दिखाई पडते हैं। जब नामरूपात्मक उक्त अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तो अनन्त एवं असीम ब्रह्म तत्व का साक्षात्कार होता है। जगत् की भ्रांति एवं परम सत् के बोध के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ने आचार्य शंकर की ही भांति प्रसिद्ध रज्जु एवं सर्प का दृष्टान्त भी दिया है। इस प्रकार स्वामी जी जगत् को अध्यारोप भी मानते हैं।

माया को स्वामी विवेकानन्द सत् एवम् असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय स्वीकार करते हैं। परन्तु, माया को विवेकानन्द जगत् की व्याख्या के लिए उपयुक्त नहीं मानते। स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार माया कोई सिद्धान्त विशेष न होकर जगत् की स्थिति मात्र का ही बोधक है। इसके अतिरिक्त विवेकानन्द माया का मिथ्या अर्थ भी नहीं ग्रहण करते। जगत् को स्वामी विवेकानन्द परमार्थसत् के रूप में नहीं स्वीकार करते परन्तु, वे जगत् को पूर्णतः असत् भी नहीं कहते। इस प्रकार शांकर अद्वैतवाद और विवेकानन्द की विचारधारा में परिलक्षित अद्वैतवाद प्रायः समान ही है। इसीलिए विवेकानन्द को 'नव्य-वेदान्ती' भी कहा जाता हैं। इन्होंने सगुण एवं निर्गुण परम्परा में कोई भेद नहीं किया है। अर्थात् एक ब्रह्म एक साथ सगुण और निर्गुण दोनों है। वही सत्य है तथा माया की योग से सृष्टि बनाता है तथा अभिव्यक्त करता है। उस ब्रह्म की पुर्नप्राप्ति ही मानव जीवन का अंतिम उद्देश्य हैं। इनके गुरु श्री रामकृष्ण का ईश्वर तत्व भी किसी वाद या सिद्धान्त में न बँधा होकर सर्वान्तरयामी है। अन्तःकरण की भिन्नता अर्थात् संसार और पंथ की अनेकता के कारण ही लोग उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। इस नामगत विभिन्नता के कारण उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता है। इसी भाँति वही ईश्वर तत्व सगुण एवं निर्गुण दोनों रूप में है। इससे न तो उसके ईश्वरत्व में कोई बहुलता आ जाती है और न ही उसके स्वरुप, नित्यता एवं दिव्यता में कोई अन्तर आता है।

अद्वैत वेदान्तिक परम्परा का निर्वहन करते हुए ही श्री रामकृष्ण एवम् विवेकानन्द की वैचारिक पृष्ठभूमि में माया–सिद्धान्त सम्बन्धित विचारधारा का प्रतिपादन हुआ है। इन **दोनों ने माया अथवा अज्ञान को ही बन्धन स्वीकार किया है तथा कहा है कि इससे छुटकारा पाने पर ही हम अपने असली स्वरुप को पहचान सकेंगे। यही मुक्ति है और यह मुक्ति ही मानव का लक्ष्य है।** नामरुपात्मक जगत् अनित्य एवं सान्त है; अतः विकारयुक्त है जिसके कारण उसमें अन्तर्विरोध का होना स्वाभाविक है। इसी अन्तर्विरोधात्मक स्थिति को स्वामी विवेकानन्द ने माया के रूप में स्पष्ट किया है। अद्वैत वेदान्त की भाँति इनका भी मानना है कि सृष्टि इसी माया का प्रक्षेप है जिसका अधिष्ठान ब्रह्म है। माया अपनी आवरण शक्ति द्वारा जहाँ एक ओर ब्रह्म या सत्य के यथार्थ स्वरुप को आवृत्त करती है वहीं अपनी विक्षेप शक्ति द्वारा इस सम्पूर्ण नामरुपात्मक जगत् प्रपंच की सृष्टि भी करती है। **सृष्टि का अधिष्ठान 'ब्रह्म' है तथा माया उसकी बीज शक्ति है।** यह सुविदित है कि प्रलयावस्था में कार्य अपने कारण में विलीन हो जाता है। अतः श्री रामकृष्ण देव ने कहा कि आद्य–शक्ति ही इस सृष्टि को ईश्वर के भी भीतर से बाहर लाती है और पुनः उसी में रख देती है। अद्वैत वेदान्तिक दृष्टि से **मायोपाधिक ब्रह्म ही ईश्वर है।** सत्य एक ओर अद्वैत स्वरुप 'ब्रह्म' ही है; अतः परमार्थतः जगत् (सृष्टि) को असत् कहा गया। श्री रामकृष्ण देव के मतानुसार सृष्टि बन्ध्यापुत्र के समान असत् नहीं वरन् भ्रम की तरह असत् है।

यदि मायोपाधिक ब्रह्म ईश्वर है तो **अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही 'जीव' है।** जीव अविद्याकृत है क्योंकि जीव के अस्तित्व की कल्पना वैसी ही है जैसे गंगा का कुछ भाग हम घेर लें और कहें कि यह हमारी निजी गंगा है।' **विवेकानन्द के अनुसार विषय और विषयी की ग्रंथि का**

नाम 'जीव' है।

शंकराचार्य के तत्व मीमांसीय सिद्धान्तों की वजह से अद्वैत वेदान्त को प्रायः 'अकर्मण्यता का दर्शन' कहा जाता है। अद्वैतवादी ब्रह्म को कूटस्थ नित्य, शुद्ध तथा पूर्ण मानते हैं। पूर्ण होने से इसमें किसी प्रकार के कर्म सम्पादन की संभावना नहीं बनती है, क्योंकि सामान्यतया यह माना जाता है कि कर्म ऐच्छिक होता है और इच्छाओं की उत्पत्ति कमी या अपूर्णता के कारण होती है। यद्यपि ब्रह्म में किसी प्रकार की कमी या अपूर्णता नहीं है। इसीलिए उसमें किसी इच्छा का होना सम्भव नहीं है। इसलिए उसका कर्म करना भी सम्भव नहीं है। **अद्वैत वेदान्त में मुक्तावस्था ही ब्रह्म अवस्था है।** इसलिए कर्म को बन्धन अथवा अज्ञान स्वरुप ही माना जायेगा। इन सिद्धान्तों के फलस्वरुप जो भी दर्शन विकसित हुआ उसने सांसारिक कर्मों के प्रति उदासीनता को ही बढ़ावा दिया। स्वामी विवेकानन्द ने अद्वैत वेदान्त के विषय में अकर्मण्यता के आरोप का प्रतिवाद करते हुए कहा था कि हम साधारणतया अकर्म का अर्थ करते हैं– निश्चेष्टता। परन्तु, श्री रामकृष्ण देव एवम् स्वामी विवेकानन्द ने अद्वैत वेदान्त के व्यावहारिक पक्ष पर विशेष बल दिया है। अद्वैत वेदान्त को व्यावहारिक दर्शन का रूप देकर इन दोनों ने मानव सेवा एवं विश्व बन्धुत्व के भाव को उन्नत किया है।[1]

अद्वैत वेदान्त दर्शन पर केवल आदर्शमूलक दर्शन होने का जो आरोप लगाया जाता है उसका प्रतिवाद भी स्वामी विवेकानन्द ने डटकर किया है। वे कहते हैं अद्वैत वेदान्त ऐसे किसी भी आदर्श की बात नहीं करना जिसकी प्राप्ति न हो सके अथवा जो व्यावहारिक न हो। **वेदान्त का परम आदर्श ही है 'तत्त्वमसि' अर्थात् तुम ही वह ब्रह्म हो।** इस आदर्श को अपने वैचारिक पृष्ठभूमि में व्याख्यायित करते हुए स्वामी विवेकानन्द

[1] स्वामी विवेकानन्द– व्यावहारिक जीवन में वेदान्त, पृ0 3

कहते हैं कि "समस्त बौद्धिक वाद-विवाद और विस्तार के पश्चात् तुम्हें इसमें यही सिद्धान्त मिलेगा कि मानवात्मा शुद्ध स्वभाव और सर्वज्ञ है। आत्मा के सम्बन्ध में जन्म अथवा मृत्यु की बात करना भी कोरी विडम्बना मात्र है। आत्मा का न कभी जन्म होता है, न मृत्यु; मैं मरूंगा अथवा मरने में डर लगता है, यह सब केवल कुसंस्कार मात्र है और मैं यह कर सकता हूँ, यह नहीं कर सकता, ये सब भी कुसंस्कार है। मैं सब कुछ कर सकता हूँ। **वेदान्त सबसे पहले मनुष्य को अपने ऊपर विश्वास करने के लिए कहता है।** जिस प्रकार संसार का कोई धर्म कहता है कि जो व्यक्ति अपने से बाहर सगुण ईश्वर का अस्तित्व नहीं स्वीकार करता, वह नास्तिक है, उसी प्रकार वेदान्त भी कहता है कि जो व्यक्ति अपने आप पर विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है। **अपनी आत्मा की महिमा में विश्वास न करने को ही वेदान्त में नास्तिकता कहते हैं।** बहुत से लोगों के लिए यह एक भीषण विचार है, इसमें कोई संदेह नहीं और हममें अधिकांश सोचते हैं कि यह कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु वेदान्त दृढ़ रूप से कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति इस सत्य को जीवन में प्रत्यक्ष कर सकता है। इसकी उपलब्धि में स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका, जाति या लिंग आदि से सम्बद्ध किसी प्रकार का विभेद बाधक नहीं है – क्योंकि वेदान्त दिखा देता है कि वह सत्य पहले से ही सिद्ध है और पहले से ही विद्यमान है।"[1]

अद्वैतवादी विचारधारा को व्यावहारिक रूप देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि 'वास्तव में वेदान्त का एकमात्र अर्थ यह है कि सभी प्राणी समान हैं। सिर्फ मनुष्य में ही समानता नही है वरन् समस्त प्राणी जगत् मे समानता विद्यमान है। मनुष्य, पशु-पक्षी सभी के जीवन का समान महत्व है।' इसके साथ

[1] विवेकानन्द साहित्य, अष्टम खण्ड, पृ0 6

ही अद्वैत वेदान्त का उपयोग दैनिक जीवन, नागरिक जीवन, ग्राम्य जीवन, राष्ट्रीय जीवन एवं प्रत्येक राष्ट्र के घरेलू जीवन में किया जा सकता है क्योंकि वेदान्त सर्वोच्च दर्शन और धर्म है। एक और अद्वैत तत्त्व की सार्थकता को श्री रामकृष्ण और विवेकानन्द दोनों ने अपनाया और यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि समस्त लोक की आत्मा एक है। वही एकमेवाद्वितीयं है। वही ब्रह्म है। उसका अभिज्ञान ही परमानन्द है, मोक्षत्व है। वह अनादि एवं अनिर्वाच्य है। अतः उसके अभिज्ञानार्थ साधना मार्गो मे प्रवृत्त होकर बन्धनग्रस्त जीव को अनुभूति प्राप्त करने की आवश्यकता है।

भावी शोध हेतु सुझाव –

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में श्री रामकृष्ण देव और उनके परम शिष्य विवेकानन्द को अद्वैत वेदान्त के व्यावहारिक परिवर्द्धक के रुप में दर्शाया गया है। वस्तुतः समकालीन भारतीय दार्शनिक परम्परा अद्वैत वेदान्त पर धारावाहिक टिप्पणी है और भारत के अधिकांश आधुनिक दर्शनविद् शकराचार्य से किसी न किसी रुप मे प्रभावित अवश्य हैं। रामकृष्ण देव और विवेकानन्द की विचारधारा में अद्वैत वेदान्त सिद्धान्तत· एवं व्यवहारतः दोनों रुप में साकार हुआ है।

समय एवं साधन की सीमाओं के कारण प्रस्तुत कृत्य शोध सीमित ही कहा जायेगा। इस शोध को व्यापक बनाने के लिए शोधार्थी द्वारा कुछ ऐसे क्षेत्रों का संकेत किया जा रहा है जिसमें और अधिक कार्य किया जा सकता है–

श्री रामकृष्ण देव की सिद्धियां अत्यन्त व्यापक थीं। ऐसा कहा जाता है कि माँ काली का इनको साक्षात् हुआ था। शंकराचार्य ने भी देविस्त्रोत लिखा है। रामकृष्ण देव माँ काली के वरद् पुत्र थे तो शकराचार्य को भगवान् शंकर का अवतार माना जाता है। इस संदर्भ में व्यापक शोध कार्य किया जा सकता है।

शंकराचार्य ने अपने मत का प्रचार–प्रसार सम्पूर्ण भारतभूमि पर किया। इसके लिए उन्होंने चार पीठों की स्थापना भारत की चारों दिशाओ मे किया। विवेकानन्द ने भी अपने व्यावहारिक वेदान्त की शिक्षा सम्पूर्ण

धरा पर विस्तारित किया। शकराचार्य एवं विवेकानन्द की वैचारिक साम्यता पर एक गहन शोध कार्य किया जा सकता है।

शंकराचार्य और विवेकानन्द के सामाजिक सुधारों में परिस्थितिनुकूल साम्यता एवं वैषम्यता दिखायी देती है जिसका तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

शंकराचार्य को 'जगद्गुरु' कहा गया, लेकिन विवेकानन्द को समाज–सुधारक कहा गया। शंकराचार्य क्यों जगद्गुरु हैं और विवेकानन्द क्यों नहीं? जगद्गुरुता के लिए मापदण्ड क्या हैं? कौन–कौन से महापुरुष इस मापदण्ड पर खरे उतरते हैं– इस संदर्भ में श्री रामकृष्ण देव और विवेकानन्द के सामाजिक अवदानों को मूल्यांकित किया जा सकता है।

श्री रामकृष्ण देव और विवेकानन्द के द्वारा दिए गए आध्यात्मिक सत्य से दर्शन के अनेक शास्त्रीय प्रश्नों का भी समाधान प्राप्त होता है। वे समाधान वैचारिक समाधान न होकर अनुभूति के सत्य हैं। ऐसी ही एक समस्या द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत के आपसी विवादों की है जिसका अद्भुत समाधान हमें रामकृष्ण और विवेकानन्द के दर्शन में प्राप्त होता है जिसके अनुसार– 'द्वैत', 'विशिष्टाद्वैत' एवं 'अद्वैत' वस्तुतः उसी अनुभूति के तीन प्रकार हैं जिनमें परस्पर विसंगति न होकर क्रमशः तीन उत्तरोत्तर सोपानवत् संगति है। द्वैत से चलकर विशिष्टाद्वैत की ओर से होते हुए अद्वैत की भूमि पर पहुँचा जा सकता है। इसी कारण अद्वैतोन्मुखी विकास यात्रा में द्वैत एवं विशिष्टाद्वैत की धारा से भी स्वामी विवेकानन्द अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व से वेदान्तिक समाजवाद की भूमिका प्रस्तुत करते हैं। इस संदर्भ में भी दार्शनिक शोध कार्य किया जा सकता है जिसमें **'वेदान्तिक समाजवाद की वर्तमान संदर्भ में उपादेयता'** को उजागर कर आज की मानसिक पलायनता व दिग्भ्रमित मानसिकता को सम्यक् मार्ग की धारा से संलग्न किया जा सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

- अमृतवाणी, (श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का वृहत् संग्रह), रामकृष्ण मठ, नागपुर
- कल्याण (वेदांत अंक), गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 1993
- कठोपनिषद् (शा0 भा0), गीता प्रेस, गोरखपुर, संव 2028
- आचार्य बलदेव उपाध्याय, श्रीशंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद 1964
- ईशावास्योपनिषद् (शां0 भा0), गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2026
- Jha, Ganga Nath, Shankar Vedanta, Allahabad University, 1939
- डा0 बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, शारदा मन्दिर, वाराणसी
- Gandhi M K (Forwarded), Life of Sri Ram Krishna, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता-14
- डा0 लक्ष्मी सक्सेना (सं0), समकालीन भारतीय दर्शन, उ0 प्र0 हिन्दी संस्थान, लखनऊ
- ब्रह्मसूत्र (शां0 भा0), गोविन्दमठ टेढ़ीनाम, वाराणसी, सं0 2028
- J L. Nehru- Glimpses of World History, Guildford palace, London
- माण्डुक्योपनिषद् (शां0 भा0), गीता प्रेस गोरखपुर, सं0 2013
- भामती (वाचस्पति मिश्र कृत), निर्णय सागर, बम्बई 1917
- श्री शंकराचार्य, विवेक चूडामणि, गीता प्रेस, गोरखपुर, स0 2010
- श्रीमद्भगवद्गीता (शां0 भा0) गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2008
- Max Muller Three Lectures on the Vedant Philosophy, Logman's Green, London
- डा0 राममूर्ति शर्मा, शंकराचार्य, साहित्य भण्डार सुभाष बाजार, मेरठ, 1913
- आर0 सी0 मजूमदार, एनशिएन्ट इंडिया, मोतीलाल वनारासी दास, पटना, 1998

- माण्डूक्यकारिका, गीता प्रेस गोरखपुर, सं0 2030
- सी0 डी0 शर्मा, भारतीय दर्शन की आलोचना एवं अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, ~~दिल्ली~~ वाराणसी, 1998
- श्री रामकृष्ण उपदेश, मलापुर मठ, नागपुर
- स्वामी तेजसानन्द, श्री रामकृष्ण संक्षिप्त जीवनी (हि0 अनु0 स्वामी निखिलानन्द), अद्वैत आश्रम, कलकत्ता
- स्वामी पवित्रानन्द, धर्म क्यों ?, (चतुर्थ संस्करण) (हि0 अनु0 स्वामी निखिलानन्द) अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1994
- डा0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन भाग-2, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6
- Radhakrishnan, Indian Philosophy Vol II, Allen & Unwin, London, 1960
- Vedant Concept, Chinmaya Mission (West) Callifornia, U S A
- श्री रामकृष्णदेव की वाणी (एकादश सं0), रामकृष्ण मठ, नागपुर, 2001
- स्वामी सदानन्द, वेदान्त सार, साहित्य भंडार, सुभाष बाजार, मेरठ, 1964
- स्वामी परमानन्द, शंकराचार्य का जीवन चरित्र, खेमराज, बम्बई, 1913
- स्वामी अपूर्वानन्द, युग प्रर्वतक विवेकानन्द, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता-14
- विवेकानन्द संचसन, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1974
- स्वामी विवेकानन्द, प्राच्य और पाश्चात्य, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर 1971
- स्वामी विवेकानन्द : व्यावहारिक जीवन में वेदान्त, श्री रामकृष्ण आश्रम नागपुर, 1974
- स्वामी विवेकानन्द : शक्तिदायी विचार (एकादश सं0), रामकृष्ण मठ, नागपुर
- स्वामी विवेकानन्द की वाणी (नवम सं0), रामकृष्ण मठ नागपुर, 2001

- स्वामी शारदानन्द, श्रीरामकृष्ण लीलाप्रसङ्ग, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता-14
- स्वामी भूतेशानन्द, श्रीरामकृष्ण वचनामृतप्रसंग, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता-14
- स्वामी विवेकानन्द, ज्ञानयोग (एकादश सं0), रामकृष्ण मठ, नागपुर, 1987
- स्वामी विवेकानन्द, कर्मयोग (द्वादश सं0), 1990
- स्वामी विवेकानन्द, भक्तियोग (एकादश सं0), रामकृष्ण मठ, नागपुर
- स्वामी विवेकानन्द, प्रेमयोग (द्वादश सं0), रामकृष्ण मठ, नागपुर
- विवेकानन्द साहित्य (खण्ड 1-10) (पंचम सं0), अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1999
- स्वामी विवेकानन्द, धर्मतत्त्व, रामकृष्ण मठ, नागपुर
- स्वामी विवेकानन्द : चिन्तनीय बातें, रामकृष्ण मठ, नागपुर
- स्वामी विवेकानन्द : सूक्तियाँ एवं सुभाषित (बारहवाँ सं0), रामकृष्ण मठ, नागपुर, 2000
- रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना-4
- स्वामी विवेकानन्द, हे भारत! उठो जागो! (द्वितीय सं0), रामकृष्ण मठ, नागपुर-2000
- विवेक-ज्योति (पत्रिका), रामकृष्ण मठ, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर
- स्वामी विवेकानन्द वेदान्त, रामकृष्ण मठ, नागपुर
- Y Masih, Introduction to Religious Philosophy, Motilal Banarasidas, Delhi, 2001
- बसन्त कुमार लाल, समकालीन भारतीय दर्शन, मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, 2001
- एम0 हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1932